प्रथम बार

१९५६

मूल्य

चार रुपये

प्रकाशक

मनहरलाल वोरा

वोरा एंड कम्पनी, पब्लिशर्स प्राइवेट लि०

३, राउन्ड बिल्डिंग, बम्बई २

मुद्रक

मणिलाल टी. शाह,

लिपिका प्रेस,

कुर्ला रोड, अंधेरी, बम्बई २

यह आत्मकथा

शाक्यकुमार सिद्धार्थ की अपनी आत्म बीती है।

सिद्धार्थ, जो बाद में 'बुद्ध' बने—बुद्धत्व प्राप्ति तक की सम्पूर्ण गाथा स्वयं बुद्ध के मुँह से आप सुनेंगे।

लगभग चार वर्ष-पूर्व यशोधरा और सिद्धार्थ के जीवन की कतिपय किरण-रेखाएँ पाकर मै अत्यन्त प्रभावित हुआ और मैंने सोचा कि इनकी चरित्र-झांकी, जो पुराकालीन इतिहास के स्वर्ण-पृष्ठो पर बिखरी पडी है, उसे, मैं अपने ढंग से लिखूँ।

लेकिन, इस कार्य को हाथ में लेने के पूर्व, आवश्यक था कि बौद्ध-ग्रंथों का समुचित अध्ययन किया जाए। चूंकि कथा, इतिहास और राजनीति मेरे प्रिय विषय रहे हैं, मुझे मूल और अनूदित बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन में अनन्त सुख मिला। तब मैंने भारतीयेतर भाषाओ में जो बौद्ध-ग्रंथ उपलब्ध हैं, उनकी प्राप्ति का प्रयत्न किया। विशेषता यह देखने में आई कि जहाँ किन्ही भारतीय लेखकों ने बुद्ध के विषय में खोजपूर्वक लिखने का पूर्ण प्रयास नही किया, वहाँ विदेशी लेखको ने पर्याप्त परिश्रमसहित बौद्ध रचना-रत्नो का अधिक से अधिक अवगाहन किया। यहाँ स्थान और समय नही कि हम उस देशी-विदेशी सुपाठ्य साहित्य की सूची दें।

इस समस्त साहित्य के रसास्वादन पर मुझे यह संतोष हुआ कि चाहे मैं सिद्धार्थ की कहानी आत्मकथा के रूप में लिखू या न लिखू, पर सच्चे वैज्ञानिक, दार्शनिक, काव्यात्मक ग्रथों का पठन, चिन्तन, मनन करने से जो सुख और आह्लाद मिलता है, वह तो मुझे मिल ही गया! फिर भी, इस सुखोल्लास की सघनता इतनी तीव्र थी कि मन उसे अभिव्यक्ति देने के लिए मचलने लगा। परिणामतः मैंने इस पुस्तक के दो-एक परिच्छेद लिखे। मित्रों को वे अच्छे लगे। सम्पादको को पसन्द आए और उन्होने बार-बार अपने पत्रो में उन्हे स्थान दिया। इससे, मेरा उत्साह बढा और मैं 'भगवान् बुद्ध की आत्म कथा' लिखने बैठ गया। मेरे मार्ग में वे सभी बाधाएँ आईं, जो एक सर्वथा साधनहीन श्रमजीवी के सामने उपस्थित रहती हैं, परन्तु मुझे इस अनुष्ठान की लगन लगी थी कि मैं साहसपूर्वक बढ़ता गया, बढता गया!

इस बीच भगवान् बुद्ध की महापरिनिर्वाण-जयन्ती का पुण्य पर्व आया। मैंने सोचा, इस अवसर का रचना-विधान मेरे ही लिए हुआ है।

मेरे आनन्द में वृद्धि होती गई, उस आनंद की कुछ तरंगें इस कृति के रूप में, आज आपके लिए लाया हूँ।

मुझे अधिक कुछ नही कहना है, इसलिए कि मै बहुत कुछ कहने जा रहा हूँ, अपने लिए एक अवसर रक्षित रख लेना चाहता हूँ। फिर भी, मैं गौतम के बारे में यह निवेदन करूँगा कि हमारे देश में उनके विषय में अनेक भ्रांत धारणाएँ प्रचलित हैं। इनमें से कुछ तो विदेश के कुटिल इतिहासकारों का आविष्कार है और कुछ देश के स्वार्थग्रस्त मतावलम्बियों की करतूत है, जिन्होने भ्रम का आवरण प्रसारित कर अभारतीयता, कट्टरता, और दुराग्रह का परिचय दिया है। लेकिन, अभी तक ऐसा पर्दा न बन सका, जो सत्य को छिपा सके!

बुद्ध हमारे देश के ज्ञानियों, साधकों और सफल नेताओं की परम्परा में थे। परन्तु, वे अन्य सन्तों और तपस्वियो की तरह, कोरे सुधारक, उपदेशक और प्रचारक नही थे। वे हमारी धर्मभूमि के सर्वप्रथम वैज्ञानिक, विचारक और क्रांतिकारी थे। जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्होने अपूर्व परिवर्तन किए। युग-युगो के लिए, मनुष्य के मंगल-मार्ग में बाधा बननेवाली समस्याओं का निदान दिया। वे सही मानो में सत्याग्रही थे। उन्होने हमारी धरती पर समता, बंधुत्व और स्वतंत्रता का नारा सब से पहले उठाया। मनुष्य को मुक्ति का मध्यम-मार्ग दिखाया, आदि। इस पुस्तक में वे हमे 'जन्म से बुद्धत्व' तक पूरी कथा सुनाते हैं। इससे आगे का हाल भी बहुत रम्य, तत्त्वमय और घटनापूर्ण है, परन्तु उसके लिए दूसरी जिल्द की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। समय, समाधान और उपादान मिलते ही, यथाशीघ्र उसे पाठकों तक पहुँचाने की सेवा में सौभाग्य समझूँगा।

अनुगृहीत हूँ कि मुझे महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखित, अनूदित और सम्पादित साहित्य से मार्ग-दर्शन मिला। पाश्चात्य विद्वानों की कृतियाँ भी, कथा-सूत्रो को खोजने के मेरे प्रयास में सहायक हुईं। और महाकवि मैथिली-शरण गुप्त के प्रति आभारी हूँ कि पिछले बीस वर्षों से साहित्यिक एवं व्यक्तिगत रूप में उनसे प्रोत्साहन पाता रहा हूँ।

साथ ही मैं अपने साथी अवधेश बहादुर को धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिसने इस यज्ञ के लिए सदैव तत्परता दिखाई और मेरे अनेक प्रमादों के मध्य अचल रहकर, घर और प्रेस की दूरी दूर की।

बम्बई — परदेशी

प्रियवर,

डी. महीधर को

[१]

"एक कासापन मिले वावा,.......एक कासापन मिले वावा, कोई......इस जीव को रोटी का टुकड़ा दे अय्य वा।"

पुकारने वाले उस व्यक्ति की पीठ सर्वथा झुक गयी थी। लाठी के सहारे, वह कठिनाई से एक-एक डग चल रहा था। पैर लड़खड़ाते थे। हाथ कांपते थे और सिर किसी वायु-विकम्पित फुनगी-सा हिल रहा था, ग्रीवा पर वह भार रूप प्रतीत होता था। बोल निकलने के साथ ही मुँह से वहुत-सी लार टपक पड़ती, जिसे उसके रूखे चीथड़े तुरन्त पी जाते। मक्खियाँ उस पर भिनभिना रही थी।

उस अद्भुत जीवधारी के भौंह श्वेत थे, और दृष्टि काली पड़ गई थी।

वह इस प्रकार चल रहा था, मानो धरती पर कुछ खोज रहा है। पीछा करते नटखट लडको में से एक ने पूछा,—"वावा क्या खोजता है ?"

"अपनी युवावस्था"—दूसरा वोला, और शेप सब खिलखिला कर हँस दिए।

"ले वावा, यह कासापन"—दल के वालक ने उस पुरुप के हाथो में ककर रख दिया। कंकर का भान होने पर, वावा ने अपनी लकुटी चलाई, पर वे चपल वालक क्या उसकी पहुँच में आते ? उन्होंने जोर से अट्टहास किया और तालियाँ वजाईं।

राजमार्ग पर काफ़ी भीड़ थी।

हमारा रथ धीरे-धीरे उद्यान-भूमि की ओर वढ़ रहा था। मैं कव से वावा को देख रहा था—

"रथ रोको," मैंने कहा।

"...... .. . ."

"आर्य छन्न, अश्वों को अविलम्व रोको।"

राजरथ रुक गया। मैं नीचे उतर पड़ा।"

जब से उस देहधारी को देखा, मेरे जी में न जाने क्या हो रहा था। तन में कम्पन भर गया था। मन में सिहरन थी। ऐसा पुरुष तो मैंने आज पहली बार देखा था।

"क्या है कुमार ?" छन्ना ने पूछा।

"देखो, देखो आर्य, इस व्यक्ति को क्या हो गया है ? इसका क्या खो गया है ? बालक कहते हैं इसका यौवन खो गया है, तुम ढूंढ़ दो न छन्ना।"

आर्य छन्न कैसे हैं, वे तो नितान्त मौन रहे।

मेरी आँखों में आँसू भर आए। गद्‌गद् कंठ से पूछा,—"श्रेष्ठ छन्दक, कहो न, यह पुरुष कौन है ?"

सम्भवतः मेरे अश्रु-दल देख आर्य ने उत्तर दिया—

"यह वृद्ध है कुमार।"

"वृद्ध क्या होता है, आर्य ?"

"जरा-जर्जरित जीव को वृद्ध कहते हैं। इसे अब अधिक दिन नहीं जीना है!"

'सौम्य छन्न, इसके केश श्वेत क्यों हो गए हैं ?"

"आयु के कारण।"

"आयु क्या वस्तु है आर्य ?"

"कालक्षेप को आयु कहते हैं कुमार।"

"इसके दाँत कहाँ गए, और इसकी पीठ औरों के समान सीधी क्यों नहीं है आर्य ?"

"यह जरावस्था का धर्म है कुमार।"

"यदि वह धर्म है, तो क्या सबको धारण करना पड़ता है ?"

"यथार्थ है देव।"

"अय्य छन्न, क्या तुम भी एक दिन ऐसे हो जाओगे ?"

"हाँ कुमार।"

—और अब तो छन्दक के मुख पर वेदना-भाव स्पष्ट झलक आया। उसकी दृष्टि में भी करुणा भर आई।

"और क्या मैं भी बूढा हो जाऊँगा, क्या यह अनिवार्य है ?"

"देव! आप, हम और सभी मनुष्यों के लिए जरावस्था है, जो अनिवार्य है।"

मैं तो स्तब्ध रह गया। निष्कम्प दीपशिखा-सा अचपल जलता रहा। मेरे सम्मुख अपनी जरावस्था का चित्र घूमने लगा—

टेढ़े-मेढ़े, झुके दंड का सहारा लिए चल रहा हूँ....सारे अंग शिथिल पड़ गए हैं, एक-एक डग में पग लड़खड़ाते हैं....श्वेत केशी हूँ। अरदन मुख से लार टप-

कती है। मक्खियाँ मँडरा रही हैं। और सबसे अधिक कष्टदायी है कि उत्पीड़क, दुष्ट, वाचाल बालक मेरी हँसी उड़ा रहे हैं। हाथ में कासापन के नाम पर कंकर रख जाते हैं। पीछे से अन्तरीय खींचते हैं....बारम्बार पूछते हैं...बाबा, तेरी अम्बपाली कहाँ गई ?

मैंने अपने मुख पर हाथ फिराया...।

बालवृंद का सुस्पष्ट हास और करतल-रव मेरे समक्ष प्रतिध्वनित-आलोकित हो उठा। मैं अपने ही वश में न रहा। क्षिप्रतापूर्वक राजरथ में आरूढ़ हुआ।

"भद्र, बस उद्यान जाना रहने दो। रथ तुरन्त लौटा लो।"

"कुमार को क्या हुआ है ?"—छन्दक व्यथित हो उठा।

"कुछ नहीं छन्न, घबराओ नहीं। रथ हेमन्त-प्रासाद लौटा लो।"

छन्दक ने कहा—"जो आज्ञा देव।"

रथ लौट कर चलने लगा।

—"मैं वृद्धावस्था को मिटा दूँगा।" मैंने मन ही मन कहा।

मैंने पूछा,—"छन्दक, वह वृद्ध रोटी-रोटी क्यों पुकारता था ?"

"वह भूखा था, देव।"

"वह भूखा क्यों रहता है, आर्य ?"

"क्योंकि, उसके पास खाने को रोटी नहीं है।"

"रोटी नहीं है, तो भात क्यों नहीं खाता ?"

"उसके पास न रोटी है, न भात। खाने को कुछ भी नहीं है।"

"हैं !...आर्य छन्न, मिथ्या तो नहीं कहते ?"

"नहीं, मैं कुमार का सेवक हूँ, कुमार से मिथ्या-भाषण कैसे करूँगा ?"

"तो क्या ऐसे भी व्यक्ति हैं, जिन्हे रोटी दुर्लभ है ?"

"कुमारदेव का कथन यथार्थ है।"

"फिर वे भूखे ही रहते होंगे, भूखे ही सोते होंगे ?"

"हाँ कुमार !"

—"मैं भूख को मिटा दूँगा।" मैंने अपने निश्चय से कहा।

"और भद्र छन्दक !"

"आज्ञा हो आर्य !"

"वह कार्षापण द्रव्य क्यों माँगता था ?"

"खाद्य-क्रय के निमित्त।"

"तो क्या खाद्य का क्रय-विक्रय होता है ?"

"परम भट्टारक महाराज के राज्य में भी होने लगा है।"

"खाद्य-विक्रय तो पाप है छन्ना ?"

"पाप है कुमार।"

"तो, परम भट्टारक भी पाप के भागी होंगे, छन्दक ?"

"ऐसा न कहिए कुमार, ऐसा सोचना भी पाप है। शान्तम् पापम्, शान्तम्-पापम्।"

—"मैं खाद्य-विक्रय को मिटा दूँगा।" मेरी मुट्ठियाँ बँध गईं।

"कुमार को क्या हो गया है ?"

भोले छन्ना के कोप में इसके अतिरिक्त दूसरा प्रश्न कहाँ ?

यशोधरा नही मानी। मुझे अमरू-आवृत आसंदी पर बैठना ही पड़ा।

"यश, क्या सचमुच रात हो आई है ?"

"आर्यपुत्र विश्राम करें, दो प्रहर रात्रि बीत चुकी है।"

"यशोधरे, जीवन में विश्राम नही है।"

"देव को दासी क्या उत्तर दे ?"

"मैंने कई वार कहा आर्ये, अपने को दासी न कहो। तुमने एक क्षण भी न माना।"

"दुखी न हों देव, मेरे देवी कहाने का समय अभी नही आया। लगता है वह शुभ दिन दूर नही।"

और मैंने देखा, यशोधरा के अभिनील नेत्रों में बड़े-बड़े आँसू डबडबा आए हैं। बड़ी देर से जो रुलाई वह रोके बैठी थी, एक ज्वार की तरह उठी, और उस कंचनांगी की वेत्रयष्टि-देही को झकझोर गई। वोली—'देवी के रहते आज् आर्य इतने अवसन्न क्यो हैं ?'

"सुभगे, सायंकाल को राजोद्यान जाते समय, मैंने एक त्रस्त, दुर्वलताग्रस्त व्यक्ति देखा। आर्य छन्दक ने वताया, यह वृद्ध है। और सुनो तो यशोधरा, छन्दक ने कहा—"सवके लिए वृद्ध होना अनिवार्य है। तव से मैं सोच रहा हूँ, वार्द्धक्य को कैसे मिटा दूँ ?"

"देव, अपराध क्षमा हो; घटने-बढ़ने, बनने-मिटने और गिरने-उठने की सतत क्रिया पर ही संसार निर्भर है।"

"उचित कहती हो...यश......"

"रुक क्यों गये आर्य ?"

"और यश...."

"कहिए नाथ।"

"मैं सोचता हूँ..."

"देव सोचते हैं, क्या सोचते हैं ?"

"मैं सोचता था यशोधरा, एक दिन तुम भी वृद्धा हो जाओगी। तुम्हारे ये सावन-घन से सघन केश श्वेत हो जाएंगे, यशोधरा ! तुम्हारे ये आश्विन के निरभ्र नभ-से निर्मल-नयन धुँधले-मंद हो जाएँगे, यशोधरा ! तुम्हारे ये पद्मपुष्पों-से कपोल मुरझा जाएंगे, यशोधरा ! ये अविवर दंत एक-एक कर गिर जाएंगे। मुख से···" मैं आगे कुछ न कह सका।

पर, यशोधरा रुक न सकी, बोली—"कपिलवस्तु की राजवधू जरावस्था से नहीं डरती, कुमार ! जो अवश्यम्भावी है, उसके लिए सोच क्या ? उसके लिए क्या शोक और क्या अनुताप देव ?"

"किन्तु, वह भी क्या जीवन, जिसमें जरावस्था हो ?"

"क्षमा हो देव, जीवन ही में जरा आती है। शैशव, यौवन और जरा—कालगति के विराम-चिह्न हैं।

"मनुष्य अवश्यम्भावी दुर्दान्त महाकाल की गति फेर देगा।"

यश का मन लजवन्ती-सा लजा गया। बड़ी-बड़ी पलकें उन्मद बदलियों-सी झुक आईं, बोली—"देव, रात बहुत बीत चली है।"

"तुम जाओ यशोधरा, राहुल जग जाएगा।"

"देव !"

"देवि, तुमने एक दिन भी मेरी बात नहीं मानी।"

"आर्यपुत्र, शैवालिका भोजन लिए कब से खड़ी है।"

और "भोजन" शब्द ने मुझ पर वज्रवार किया—"हां, हां ··यशोधरे ! वह वृद्ध रोटी का टुकड़ा मांग रहा था। वह रो-रो कर 'रोटी-रोटी' पुकार रहा था। 'एक कासापन दो, बाबा एक कासापन दो ·· रोटी का टुकड़ा मिले अव्य बा, रोटी का टुकड़ा।' मधुकंठिनि, उसका दीन स्वर अब भी मेरे कानों में गूंज

रहा है। उस भूखे वृद्ध की जरा-जीर्ण प्रतिमा मेरी आँखों के सम्मुख प्रत्यक्ष खड़ी है राहुलमाता।......

"·····वह अभागा अब भी भूखा होगा। तुमने कभी सोचा यश, लोग भूखे क्यो रहते हैं? भूखे रहने को मजबूर क्यों हैं?....मैंने छन्ना से कहा था, 'आर्य छन्न, राजकोप मे, कहते हैं अनन्त धनराशि है। कोटि-कोटि स्वर्ण-रौप्य मुद्राएँ हैं, इस वृद्ध को कुछ दिला देना।

"तब छन्दक ने उत्तर दिया···'कोष पर राज-परिषद का अधिकार है।' तो मैंने पूछा···राज-परिषद लोगों को भूखा मारेगी?"

"ऐसा न कहिए नाथ! राज-परिषद सर्वोपरि सत्ता है, उसके अधिकार के विषय मे प्रश्न उठाना, ईश्वर के अस्तित्व को चुनौती देने के तुल्य है।"—छन्दक ने यही कहा था, तन्वि! यह छन्ना, यह न करो, वह न करो, यह न कहो, वह न कहो आदि के अतिरिक्त और भी कुछ जानता है, या नही?

"तब मैंने कहा····'मेरा हीरक-हार इसे दे दो छन्दक।' तो, उसकी विनम्रता बोली····'कठोर राजाज्ञा है कि आप बाह्य व्यक्ति से न संभाषण करें, न अन्य व्यवहार-सम्बन्ध ही रखें।'

"····तो, क्या चारुलोचने, हम राजाज्ञा के वंदी हैं? क्या सिद्धार्थकुमार किसी सत्ता के अनीतिपूर्ण आदेश का दास है? क्या मै इसलिए राजपुत्र हूँ कि लोग भूख से तड़पे? तुम····तुम यह क्या कहती हो कि राजाज्ञा लोकहित के लिए प्रकाशित होती है! तो तुम्ही बताओ, लक्ष-लक्ष जनता को भूखा रखने मे, प्रजा का क्या हित देखा गया है? मैं स्पष्ट सुन रहा हूँ यशोधरे, इसमें किसी अन्यायी-वर्ग का लोभ रो रहा है। तुम मानो या न मानो, यशोधरा, मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि जन-जन की रोटी और रोटी के अधिकार, निहित-स्वार्थ वर्ग-विशेष-द्वारा मुष्टिवद्ध हैं।

"सुकेशि, रात बीतनेवाली है, अन्धकार जानेवाला है, और नया उजेला आने-वाला है। कल का सूरज उगने दो, मै कहता हूँ, सिद्धार्थ कहता है, कल का सूरज उगने दो, मैं अपनी आवाज़ उठाऊँगा। जिनके पेट खाली हैं, और जिनके अधिकार छिन गये हैं, उन सबको लेकर मैं परम भट्टारक के प्रासाद मे प्रार्थी होऊँगा। यदि महाराज और परिषद ने मेरे विनम्र, निर्वैर निवेदन को स्वीकार किया तो ठीक, अन्यथा, अस्वीकार किया तो याद रखो यशोधरे, मैं तुम्हारे आभिजात्य-वर्गो में वह आग लगाऊँगा जो सहस्राब्दियों तक नही बुझ सकेगी। सुहासिनि, मै श्रेष्ठियों की उस सैन्य-सुरक्षित वद्ध मुष्टि को तोड़ दूँगा, और रोटी को आज़ाद करूँगा"··········

"विकल न हो राजकन्ये, सिद्धार्थ पागल नहीं हो गया है। प्रस्तुत प्रश्नों से पलायन करना जीवन नहीं है। देवि, देवि, वह वृद्ध इस समय कहाँ होगा ? देखो न, कितनी प्रखर हिमवर्षा हो रही है। नीचे द्रुम-वल्लरियाँ तुषारपात के आघात से विच्छिन्ना पड़ी हैं। गगनांगन में तारे कांप रहे हैं। तुम्हारे अरुण अधरों पर प्रकम्प की लहर व्याप्त है। यशोधरा, कहो उस वृद्ध की क्या दशा होगी ? उसके तन पर मात्र एक अधोवसन था। न जाने वह कहाँ ठिठुर रहा होगा !

"जिसमें एक भी प्राणी भूखा है, वह कैसा जनतन्त्र है ? जिसमें एक भी व्यक्ति नगा है, वह कैसा गणतन्त्र है ?

"मैं···मैं राजाज्ञा से द्रोह करूँगा। मैं उस वृद्ध के पास जाऊँगा और उसके बुढ़ापे को जवानी में बदल दूँगा। दारिद्र्य से झुका उसका सिर द्रोह से तन जाएगा। मध्यदेश का भावी सम्राट् एक साधारण व्यक्ति से मिलने में असमर्थ ! वाह रे सम्राट् ! हुँ···हुँ··हुँ···देवि, मैं भूख को मिटा दूँगा···मैं आयु की अवधि को मिटा दूँगा।

"परम भट्टारक प्रातः स्मरणीय, महामहिम महाराज शुद्धोधन के राज्य में, जहाँ सुरापी सामन्त और व्यभिचरित श्रेष्ठीगण प्रमाद प्रमत्त विचरते हैं, शाक्य-वधु, वहाँ वृद्ध और अबल-अपाहिज रोटी-रोटी को तरसते हैं, भूखा रहने को बाध्य हैं, मरजाने को मजबूर हैं। उत्तुंग अट्टालिकावन्ती कपिला में, जहाँ कुल-कन्यायें प्रतिपल परिधान पलटती हैं, वहाँ मनुष्य अर्द्धनग्न भटक रहा है·······और मैं कहता हूँ, आर्यावर्त्त की अभग एवं परम पवित्र न्याय-परम्परा के नाम पर कहता हूँ, इस पुंजीभूत पाप का भार पुण्यश्लोक परम-भट्टारक पर है,...मुझ पर है, और यशोधरे, तुम पर है,····और राहुल पर है और छन्दक पर है, और इस शैवालिका पर है, उस जीवान्तक देवदत्त पर है····शैवालिके··· शै वा लि के, ····भोजन का थाल लौटा ले जाओ, शैवालिके, परम-भट्टारक चक्रवर्ती सम्राट् जनता को भूखे मारने के अपराधी हैं। जाओ, जाओ, नगर-नगर, घर-घर और चौराहो पर घोषणा कर दो कि समस्त धर्मभूमि के भूखे, भिखमगे और अछूत नर-नारायण इस अपराधी सम्राट् का न्याय करेंगे···" 'करेंगे न, राहुल माता ?

"शैवालिके ! तुम्हारी स्वामिनी ···अहा····देवी यशोधरा इसलिए सुवेशधारिणी सदलंकृता है कि कोटि-कोटि निस्सहाय नर-नारी नग्न रहने को वाध्य कर दिए गये हैं। कपिलवस्तु के इस नभचुम्बी वातायन से मैं दशो दिशा के दासो को पुकार-पुकार कर कहता हूँ कि ओ, रे····ओ ···तुम कैसे दास हो, जो यह भी नहीं जानते कि इन स्वामियों, स्वामिनियो और स्वामी पुत्रों की लालिमा में तुम्हारा अपना अभिशोषित लहू छटपटा रहा है ! वे लाख-लाख प्राणी, जिनके मांस-मज्जा

से राजमहल आलोकित हैं, अब अधिक दिन वलि न वनेंगे। जिस पल वे एकत्र हो समवेत स्वर में अन्न, अधिकार और वस्त्र का विजयघोष लहराएँगे, उस दिन देखना यशोधरा, सिंहासन भूलुंठित होंगे।....और राजमुकुटों की नीलामी होगी। देवि, एक न एक दिन महाराज, महारानी और नवजात युवराज को जनसमूह के आगे-आगे विधवा कपिलवस्तु के राजमार्गों पर नंगे पैरों चलना पड़ेगा और 'जनता की जय' कहने को बाध्य होना पड़ेगा। पार्षद, पंडित और वेदपाठी विप्रगण अब प्रजा को अधिक दिन भ्रम में न रख सकेंगे। मैं कहूँगा—द्रव्य में नहीं, दरिद्र में नारायण है। स्वामी नहीं, जो सबका सेवक है, वही हरि-जन है। वदलेगा, युग, दशा, दिशा और व्यवस्था वदलेगा, अवस्था वदलेगा। प्रारब्ध, परमेश्वर और पाप-पुण्य की परिभाषाएँ आमूल परिवर्तित होंगी। यशोधरे, काँप रही हो ? अभी तो वह दिन दूर है.......

"ज़रा निकट वैठो देववाला, मुझे न जाने क्या हो गया है ! आज की रात्रि मुझसे न जाने क्या-क्या कह रही है। लगता है, कहीं दूर से कोई मुझे पुकार रहा है।........हे पुकारनेहारे, मैं आऊँगा, ज़रूर आऊँगा...

"देवि, सिंहद्वार पर शहनाइयाँ वजने लगीं, तो क्या भोर हो गया ? मैं तुम्हारे रतनारे नयनों की गुलावी नींद हरनेवाला अपराधी वन गया ! दंड दो चाहे क्षमा करो।

"शैवालिके, आर्य छन्दक को बुलाओ।

"तुम जाओ राहुलमाता, कपिलवस्तु का भावी युवराज जाग गया होगा। वह राजअम्वा की राह देखता होगा।...जाओ देवि, क्षमा करना ! मेरी त्रुटियाँ मन में न लाना।"

और कोई मेरी पदांगुलियाँ पूजकर, उष्ण ओसविन्दु चढ़ा गयी !

उसके जाने पर, जाने कव तक, मैं वैसा ही वैठा रहा।

स्थिर, पर अस्थिर ! मैं वैठा ही रहा......सम्मुख रथ था, राजपथ था, वृद्ध था और मेरे कानों में गूँज रहा था—

"एक कासापन मिले वावा,...एक कासापन मिले वावा...कोई इस जीव को रोटी का टुकड़ा दे अय्य वा ?"

मैं चौंक कर उठ वैठा !

☆

[२]

हम लोग शाक्य हैं। शाक्य स्वामिपुत्र हैं। स्वामी क्षत्रिय हैं, शक्ति के उपासक। एक हाथ में नाश और दूसरे में निर्माण लिए शाक्यों ने वसुन्धरा-विजय किया है।

कद में लम्बे, उन्नत-ललाट, वृषभस्कन्ध और विशाल-वक्ष, ऐसे इन सिंहवर्ण शाक्यो ने अपने आजानु वाहुओं के धनुष-टंकार से दस्युओं का दमन किया और अनेक वार इतिहास के पृष्ठों पर एकछत्र राज्य किया।

फिर भी ये शाक्य न जाने कैसे हैं, वड़े ही सरल, पर स्वाभिमानी, यों कहो 'दम्भी'। पुरुष इनके कठोर—वर्ग, वर्ण और वैर के विश्वासी। स्त्रियाँ तृण के समान तन्वंगी, किन्तु, लोह-शलाका से भी सवल। इन अभगयौवना शाक्य-सुन्दरियों के दो गुण—उनकी मदवन्ती कजरारी आँखो में युगान्तरों का सम्मोहन और उनके प्रवाल-सदृश अधरों में छलाछल रस। एक वार जिसने एक विन्दु पान किया, जन्म-जन्मान्तरो के लिए समझो, सुधबुध भूल गया। इसी मस्ती की खुमारी में शाक्य लड़ते थे। फिर हार से अधिक उनकी जीत होती थी। जीत कर फिर लड़ते, लड़ कर मरते थे, जीवित होते और फिर मर जाने को बेचैन हो उठते!

मुझे वतलाया गया: अनेक आड़े अवसरों पर, विपक्षी को परास्त करने के पूर्व अन्तिम अस्त्र रूप में शाक्यवाला (गुप्तचर कन्या) समारांगण में लाई गई और उसके एक दृष्टिपात पर शत्रु-सैनिकों ने चरणो में समर्पण कर दिया और उनके शस्त्रास्त्र उस वाला की पगधूलि वन गए।

ऐसी शाक्य-कुल-कान्ताओ की कीर्ति जव समस्त आर्यावर्त्त में फैल गयी, तो आए दिन उन्हे रानी या दासी वना लेने के लिए शूरवीरो के गले कटने लगे। कुछ शाक्य देश छोड विदेश चले गये। उन्हे भाग्य से अधिक भुजवल का भरोसा था। शत्रु की निर्वलता से वे परिचित थे।

शाक्य वर्ण, वंश और रक्त की श्रेष्ठता के समर्थक थे। समर्थक ही नही,

अन्धभक्त थे। जब सीमान्तक में जाकर बस गये, तो रक्तशुद्धि का मोह और भय उनमें इतना घर कर गया कि वे अपनी ही कुल कन्याओं का पाणिग्रहण करने लगे। अपनी ही अगमनीया बालाओं से ब्याह रचाने लगे, और इसकी पूर्व-कथा यों है—

पुराकाल में इक्ष्वाकु शाक्यों के परम पितामह थे। इक्ष्वाकु ने अपनी प्रिया मनापा की नखज्योति मे प्रेम का प्रकाश देखा। मनापा के पुत्र को, जो सब से छोटा था, राज्य देना स्वीकार किया। उपयुक्त अवसर आने पर मनापा ने अपने सौत-पुत्रों को निर्वासित कर दिया। उक्कामुख, करंडु, हत्थिनिक और सिनीसूर नामक चार अग्रज उपस्थापित हुए।

ये निर्वासित राजपुत्र हिमालय में वास करने लगे। जहाँ एक सुन्दर सरोवर था और पास ही महाशाक्यवन था। इसी वन में चारों शाक्य बन्धुओं ने अपना डेरा डाला। अत्यन्त सुकुमार और सुन्दर तो वे थे ही, अपना रंग-रूप बिगड़ जाने के भय से उन्होंने वर्षो तक अपनी बहनों से सहवास किया।

और एक दिन राजा इक्ष्वाकु ने अपने महामात्य से पूछा—

'कहाँ हैं भो, इस समय मेरे कुमार ?'

बोला वह—

'महाराज, हिमवान के समीप सरोवर के तट पर महाशाक्यवन में हैं। वही इस समय वे रहते हैं और जाति तथा वर्ण के क्षय-भय से अपनी भगिनियों के साथ संवास करते हैं।'

सुनकर भूपति ने अपने सपूतों की सराहना की।

इससे शाक्यों का रक्त शुद्ध बना रहा या नही, परन्तु शेष सब अशुद्ध हो गया। शाक्य-सन्तान अत्यन्त विलासी, प्रमादी और क्रूर बनी। इस प्रकार उन का कुल-क्षय हुआ। जब कुल-क्षय हुआ तो, उसके परिणाम में सनातन धर्म का क्षय अनिवार्य था। धर्म-क्षय से समस्त शाक्य-समुदाय में वासना, पाप और हिंसा बढ़ी। पाप ने वासना को, वासना ने हिंसा को वेग दिया। हिंसा ने वैर-विरोध की वृद्धि की, और इस प्रकार यह कुचक्र चलता रहा।

धीरे-धीरे भुवन मोहिनी शाक्य-वधुएँ 'भ्रष्ट' हो गईं।

कितना कठोर और निष्ठुर शब्द है यह 'भ्रष्ट' और मैं इसे अपने ही आदि पुरुषो के लिए प्रयुक्त कर रहा हूँ। न करूँ, तो क्या इतिहास को झुठला दूँ ?

स्वकुल एवं जातिघातक बन्धु-वर्ग, इन्द्रियसुख और भोग-लिप्सा—महापातक के प्रणेता बने। अपने ही कुलजनों का वे संहार करने लगे। सुरा, सुन्दरी और साम्राज्य से उनके विनाश का संगम बना।

जब शासकों की, शासकों की यह दशा थी, तो शासितों की अवस्था का अनुमान सहज लग सकता है!

यों जब धर्म, कर्म और मर्म की ग्लानि हो रही थी, तब जरूरी हो गया कि मैं पुनः धर्म की स्थापना करूँ। ज्ञान की जोत जलाऊँ, अज्ञान का तिमिर दूर करूँ। अविद्या के स्थान पर विद्या को और दानव के स्थान पर मानव को प्रतिष्ठित करूँ।

तभी न सार्थक होगा मेरा नाम 'सिद्धार्थ'?



[३]

शैवालिका कहने लगी—

"तब महाराज ने संकेत से अंगरक्षको को परे कर दिया। और छन्दक से पूछा—'भद्र सारथि ! क्या कुमार उद्यान-भूमि की सैर कर चुका ? क्या वहाँ की शोभा से वह प्रसन्न हुआ ?'

आर्य छन्दक के मुँह से तो बोल न निकलते थे। किसी प्रकार मानो अपने को वश में कर, वे बोले—

'कुमार सिद्धार्थ राजोद्यान की सैर को गए ही नही, कृपानाथ ! मार्ग-मध्य से ही लौट आए। मैंने वहुधा अनुनय-विनय की !...'

परम भट्टारक सोच में पड़ गए।

उनके प्रशस्त ललाट पर उदित चिन्ता की रेखाएँ स्पष्ट दीख रही थी। बंकिम भ्रुओ का सहज संकुचन सुलक्षित था। पूछा—

'भद्र ! जाते समय चिरंजीवी सिद्धार्थ ने क्या देखा ?'

यह प्रश्न सुन कर तो, छन्दक असमंजस में पड़ गए ! कुमार, मैं झूठ नही बोलूँगी, न पिशुनवचन कहना मुझे आता है, न कभी रत्ती भर 'इधर-उधर' करती हूँ।....तो, छन्न तो सन्न रह गये। उनके दुर्बल तन का कम्पन और मन का परिताप झलकने लगा !

आर्य छन्दक के मौन ने परम भट्टारक को व्यग्र कर दिया। तनिक रोष से पूछा—'बोलो ?'

और देव के श्रीमुख से अचानक यह सुन कर मै चौक पड़ी। शरीर मे ठंडी लहर दौड़ने लगी। छाती धड़कने लगी। देखो न, कुमार ! अभी तक कलेजा काँप रहा है। ज़रा अपना हाथ लाओ—"

"रहने दे शैवालिका, फिर किसी दिन देख लूँगा। तेरी धड़कन ऐसी-वैसी नही कि सहज ही मर जाएगी। पर....तनिक संक्षेप में कह !"... मैंने कहा।

"तो कुमार! मैंने स्तम्भ का कोना कस कर पकड़ लिया और मुँह पर वाम कर धर लिया, कहीं, डर कर 'ओह' न कह बैठूँ!...

भयभीत हो छन्दक ने निवेदन किया—'देवपुत्र ने एक जाते हुए वृद्ध पुरुष को देखा।'

'वृद्ध ?'—आर्य-अधिराज चौंक कर दो पग पीछे हट गए। बोले—

'छन्दक, सिद्धार्थ ने शेषनाग देखा होता तो कोई बात नहीं थी। छन्दक, सिद्धार्थ ने हिंस्र-व्याघ्र का खुला मुख देखा होता तो कोई चिन्ता नहीं थी। भद्र, सिद्धार्थ ने महाकाल के कराल डाढ़ और ज्वालामुखी की गोद देखी होती, तो मैं उसे बधाई देता।···किन्तु...किन्तु, हाय रे अभागे छन्द, जानते हो, किसी वृद्ध भिखारी के दर्शन का प्रतिफल ?'

आर्य छन्दक ने सिर हिला कर स्वीकार किया।

'तो फिर छन्दक, तुमने राजाज्ञा का उल्लंघन क्यों किया ?' महाराज आवेश में थे।

'अपराध क्षमा हो शाक्येन्द्र !'

महाराज के सुतीक्ष्ण, सुदीप-लोचनों में मुक्ताफल-से जल-दल झलके—'तुम और सिद्धार्थ मुझे समान हो। तुम्हे क्या कहूँ छन्ना ?'

छन्दक सिर नवाए रहे।

तब महाराज ने कहा—'जाओ !'

अवसर देख, मैं अंजिजर की वारि-पूर्ति के मिस प्रकट हो गयी।

'कौन ?'—पीछे मुड़ कर परम भट्टारक ने मुझे देखा—'शैवालि, तू है!... सुरा तो ला री, बहुत दिन हुए तेरे कुटिल-करों से विष की एक प्याली पिए !'

मै तो कुमार, लजा कर रह गयी। अहो मेरे भाग्य! ···· इतने दास-दासी और परिचारक हैं परन्तु, महाराज को तो शैवालिका, शैवालिका की ही धुन।···

जब मैंने पद्मराग मणि के महापात्र का आच्छादन हटाया तो कुमार, सच कहती हूँ, उसकी गंध से मैं बेसुध होने लगी। पर महाराज की सेवा की सुध थी, अतः मैंने स्वतः कहा—'शैवालिके क्या कर रही है ? आज तीस बरस से तू परम भट्टारक की प्रधान परिचारिका है। जिन अगम अन्तःपुरों में सिन्धु देश की अश्विकाओं-सी प्रमत्त रानियाँ विहार करती हैं, उनमें भी तेरा अरोक गमन है। तेरे लिए राज्य के किसी गृह, अन्त गृह, कक्ष में प्रवेश निषिद्ध नहीं।····यदि तू ही यों अपना कर्त्तव्य भूल जाएगी!'

"अच्छा, शैवालिके तू थक गयी होगी, शेष वृत्तान्त कल सुनेंगे"—मैंने ऊब कर अन्तिम अस्त्र चलाया। शैवालिका को मृत्यु दण्ड स्वीकार, पर अपना आपसंग

नही। कहने लगी—"सचमुच, महामायाजात ! मैं विस्तार के पार चली गई। तो, परम भट्टारक ने सागर पति के भेजे अंभसार-पात्र से एक घूट लेकर आदेशा —'नगर नायक !'

मैं दौड़ी-दौड़ी प्रहरियों के पास गई। उन्हे सूचना दी।

नगर नायक तत्काल उपस्थित हुए। परम भट्टारक को यथाविधि प्रणाम कर, एक ओर दक्ष मुद्रा में खड़े हो गए।

महाराज के हाथ मे पात्र था। क्या कहूँ कुमार, उस अंभसार-पात्र में लहराता सुरा का रंग ! मानो किसी गोरी की उजली एड़ियो पर अलक्तक की परछाइयाँ लहरा रही हों। दूसरे घूंट पर श्रीमुख ने कहा—

'भद्र ! नगर के अशुभ समाचार कहो !'

वह गरीब चौंक पड़ा। स्तब्ध रह गया।

'नायक, राजाज्ञा-द्वारा नगर में किसी वृद्ध का प्रवेश वर्जित है। कल सन्ध्या को सिद्धार्थकुमार ने उद्यानभूमि जाते एक वृद्ध पुरुष देखा…वृद्ध ने कैसे प्रवेश किया ?'

नायक चुप रहे।

महाराज के नेत्र अरुण हो गये। रोष के आवेग मे अधर फड़कने लगे—'वह घृणित, दरिद्र, भिखमंगा वृद्ध राजमार्ग पर, कुलपुत्रों और कुलकन्याओं के लिए सुरक्षित पथ पर, किसकी आज्ञा से विचरण कर रहा था ?'

'अपराध क्षमा हो, …अपराध क्षमा…महामहिम !'

'अपराध क्षमा नही !—प्रहरी, महाबलाधिपति ?'

बलाधिपति के आगमन तक निस्तब्धता रही।…उसे जब महाराज ने विस्फारित आरक्त नयनों से देखा, तो सहम गया। वही कृशागौतमी का प्रेमी….

परम भट्टारक ने बलाधिपति से कहा—'नगर नायक को आजन्म कारावास। परिषद की सम्मति ले लेना।'

नायक को प्रहरी ले चले।

तब महाराज ने मेरी ओर देखा। मैं समझ गयी कि बलाधिपति से गुप्त मन्त्रणा करना चाहते हैं। मैं टल गयी और स्तम्भ की ओट आ गयी।

परम भट्टारक ने आज पहली बार तीसरा पात्र खाली किया था। मैं रह-रह कर काँप जाती थी। उनकी चिन्ता और वेदना अधिक सघन हो उठी थी। गम्भीर स्वर में बोले—

'रिपुदमन देवदत्त ! …. कुमार के प्रासादों का पहरा एक योजन तक बढ़ा दो। पूर्व राजाज्ञा का कठोरतापूर्वक पालन हो। राजमार्गों और राजोद्यानो के

अतिरिक्त, कुलसम्बन्धियों के किसी आवास और उसके निकट भी किसी वृद्ध, पंगु, कोढ़ी, रुग्ण, अपाहिज, दरिद्री की परछाई तक न पहुँचे, अन्यथा जानते हो परिणाम ?'

'मेरी मृत्यु ।'

'ठीक ।'

'और···' महाराज ने स्वर मंद कर कहा—'हेमन्त-प्रासाद में नृत्यों का आयोजन करो । आमोद-प्रमोद और क्रीड़ा-केलि से उसे गुजारित करो । उसके रस, रास, रमण की रेलमपेल से इन्द्रपुरी फीकी पड़ जाए ! परिषद की स्वीकृति से जितनी द्रव्यराशि ले सको, लो, और सुरा-सुन्दरियों का समारोह मनाओ !··· सिद्धार्थ का मन जिसमें रम जाय, वह करो । कृशागौतमी···हाँ, मुझे स्मरण है, उससे तुम्हारा ब्याह हो जाएगा ।···कृशागौतमी को नचाओ । हास, लास, उल्लास और रास की रचना हो । तुम भी नाचो और कुमार का मन भी नाचे । खूब नाचो···ताक् धिन्···ताक् धिन्···थेई थेई थाक्···।'

महाराज स्वयं नाचने लगे ।

सैन्य-अभिवादन कर रिपुदमन चले गये । मैंने अन्य सेवकों की सहायता से महाराज को शयन कराया । बड़ी देर तक मैं पद-सेवा करती रही । ऐसी उद्वेलित मनोदशा में मैंने महामहिम को आज पहली बार देखा था । मैं तो महाराज की चर्या से परिचित हूँ ।···

फिर तन्द्रा में उनके अधरों में स्पन्दन हुआ···'ऐसा न हो···महामाया··· ऐसा न हो पार्षदो, कुमार राज्य न करे···घर से बेघर हो जाय···ज्योतिषी बम्हनों की वाणी सार्थक हो जाय···ऐसा न हो कुमार घर छोड जाए, और कालदेवल का पूर्वकथन सच निकले···'

मैंने हौले-से उनके आँसू पोंछ दिए, कुमार !

फिर भी महाराज के श्रीमुख से रह-रह कर यही शब्द निकलते थे···'ऐसा न हो···ऐसा न हो···कि सिद्ध···मेरा सिद्धा···राज्य न करे···हे भगवान्···!'

मैं आर्य सम्राट की रजत केश-राशि सहलाती रही ।

—वे तन्द्रावश हो गये ।"

"तू जा दीवालिके"

—मैंने उससे कहा, और वातायन में आकर खड़ा हो गया ।

दूर-दूर तक अघवा के भावी-ज्यों अन्ध तमस छाया था ।



[४]

'मैं निश्चय से बुद्ध होऊँगा'—लोक की दशा देख मैंने विचार किया—'मैं निश्चय ही बुद्ध होऊँगा।' मैंने अन्तस्सरोवर में झाँक कर देखा और यही प्रण किया।

इन दिनों मैं तुषित नामक देवलोक मे रहता था। तब एक दिन, भावी बुद्ध के जन्म का अनुकूल अवसर आया जान सुक्क (शुक्ल), सुयाम, संतुषित, निम्मणि-रति, सुनिम्मित, परिनिम्मित-वशवर्त्ती और महाब्रह्मा मेरे पास आए। ये दस हज़ार लोकों के अधिष्ठाता देव थे। बोले वे—'भगवन्, आपने दस पारमिताओं की पूर्ति, इसलिए न की कि आप मार का अवतार ले या ब्रह्म बनें; या वसुधा के चक्रवर्ती सम्राट् कहलाएँ। लोक-परलोक में ऐसी तो कोई पद-प्रतिष्ठा नही, जो प्रभु को प्राप्त न हो। तथापि, नाथ, उठिए और लोक का कल्याण कीजिए।

'महामेदिनी का मंगलकामी मन प्रजा के पाप-ताप से तप गया है। उसे पुण्य और शांति का अमृत दीजिए, दयामय!......मनुष्य मनुष्य का बैरी हो चला है! पिता पुत्र से और भाई भाई से बिलग हो रहा है! माँ आज बेटे को दूध पिलाने से मुकर रही है और भगिनी के दिए भोजन में भाई की मृत्यु फल रही है। और सहोदर की छाया में ही सहोदरा का कौमार्य व्यभिचरित है नाथ! पति की नज़रों में पत्नी देवी नही, नर नारायण की जनेता नारी नही, मानवी नही, योनि मात्र रह गई है। उसे, करुणासिंधु, पुरुष ने अपनी नग्न-वासना का साधन समझ लिया है। और स्त्री भी विपथगामिनी हो चली है योगेश्वर! उसकी बाहों में पुरुष संसृति को शरण नहीं। उसकी भुजाएँ सीमित हो गई हैं। उसके दूध में विलास के रक्त की गंध आती है प्रभु! उसकी प्रपुष्ट जंघाओं पर राष्ट्र के रक्षक शूरवीर शिशु नही खेलते; निर्बल, कामुक और रुग्ण मनु-पुत्र अपनी तृष्णा का भार उतारते हैं।.....

'अब विलम्ब न कीजिए लोकेश्वर! पर्वतों की प्रलम्ब ऊँचाइयाँ प्रतिपल

नीची होती जा रही हैं। देवभूमि के प्रहरी नगराज हिमालय की चोटी पर असुर अपना आसन जमाने का प्रयत्न कर रहे हैं।...सरिताओ का जल सूखने लगा है और गंगा-यमुना की धाराएँ अपनी पुण्य-परम्परा की लीक छोड़ने लगी हैं। क्षमा हो नाथ, सुरसरि विपथगामिनी हो चली है। जब जगदम्बा ही अपने पथ का परित्याग कर देगी तो कपूत पुत्रों का भ्रष्ट होना असहज न रहेगा।...

कृपण धनिको की भाँति वृक्षो ने फलदान देना बन्द कर दिया है। आर्यावर्त की शस्य-श्यामला पुण्यभूमि पर आज के मानव का मन बदल गया है। वह अपने से ही ईर्ष्या करता है। और उसका द्वेष अपने ही प्रति है। वह शोषण की चरम सीमा पर पहुँच गया है। पृथ्वी, अनल, अनिल, वरुण और नभोमण्डल की सीमाएँ और अछोर-छोर दूषित हो चले हैं। दिवाकर का तेजस् उस दोष को भस्म करने मे असमर्थ हो चला है, भुवनेश्वर! कि जब से दिवाकर ने कुमारी कुन्ती से छल किया, और उसकी असूर्यपश्या देही को अपने सकाम नेत्रों से देखा, तब से कुंती के शीलभंग का अभिशाप देवलोक मे पाप की परछाइयाँ लेकर मँडरा रहा है।......

और प्रभो! लोक का कल्याण केवल तेज और शक्ति से ही नहीं होगा। भगवन्, भक्ति और अनुरक्ति भी इसके निमित्त कम ही उतरेंगी। लोक को संहार की नहीं, रचना की आवश्यकता है। संहार तो मर्यादा पुरुषोत्तम ने किया ही है। संहार का अनुष्ठान गोकुलवासी ने भी रचा था, सो कल की ही तो बात है। विश्व की नव रचना का यह विधान आपके ही द्वारा सम्पन्न होगा तीर्थंकर! अपनी आपदाओ और व्यथाओ के बीच वसुन्धरा खौलते सागरो की मछली ज्यो तड़प रही है। उसे अपनी सेवा का, अपने स्नेहाश्रु का एक बिन्दु दीजिए नाथ, उसका उद्धार होगा। जगत् का वर्तमान अमंगल जितना भयंकर है, उतना ही समीप है उनका मंगल। हमें विश्वास है कि सृजन की शक्तियां विनाश की वृत्तियो को सदा के लिए बुझा देंगी। हिंसा का तांडव हो चुका अब अहिंसा के लीला लास्य से लोक का कल्याण कीजिए कृपानाथ! सत्य, अहिंसा और प्रेम की त्रिपथगा के संगम पर आर्य-संस्कृति की स्थापना कीजिए... देर न हो, करुणाकर! कोटि-कोटि सन्तप्त आत्माओ की तड़पन आपको पुकार रही है। अपने कमल-कोमल कल्याणविलोचन खोलो ..खोलो ..खोलो.... हे महाप्रभु!

'तुम्हारे बुद्धत्व का मुहूर्त्त और काल आ गया है सुगत!'

मैं आँखे मूदे बैठा था। देवो की अनुनय-विनय सुन मेरा हृदय भर आया।

363

मैंने कहा—'देवो ! तुम्हारी कामना पूर्ण होगी परन्तु उसके पूर्व मुझे पाँच पुण्य-फलों पर विचार कर लेना है। मैं देवलोक से प्रस्थान कर भरत-भूमि पर जन्म लेने के लिए व्याकुल हूँ। जानते हो, उस भव्य, भद्र भूमा के प्रति मेरा प्रेम। मैं राम और सीता का साकेत देखने के लिए लालायित हूँ। मै उस मथुरा का दर्शन करूँगा, जहाँ दनुज पछाड़े जाते हैं, जहाँ नृशंस कंस के वंश का ध्वंस होता है। जहाँ जमुना-कछारों में, करील के कुजो मे अब भी उस सरस रसनदिनी बाँसुरिया के स्वर गूँज रहे हैं। मै राधा का गोकुल देखूँगा । उस सेवा और करुणामूर्ति कुमारिका के विराग की लौ अपने मे जगा सका तो अपने को धन्य समझूँगा।

धन्य है, वह धरित्री जहाँ देवगंगा बहती है! जहाँ सलिलवती क्षिप्रा के तट पर महाकाल का ताण्डव चल रहा है, जिसकी प्रत्येक पदथाप पर क्रांतिमय भूगोल दबता-उछलता है और प्रत्येक पदचाप पर युगान्तरों के भूचाल आते हैं। जिसके प्रत्येक पद परिचालन पर रत्नाकरों का उद्वेलित हृदय ज्वार से भर जाता है। ज़रूर जन्म लूँगा मै उस महादेश मे, जहाँ के लोगों ने धन को नही, धर्म को अपना ध्येय माना है। जहाँ बारी-बारी से ऋतु-परिवर्तन आते हैं। जहाँ की अन्तहीन बहुरंगिणी धरती पर नील वितान तना है। देवो, धन्य है वह देश, वहाँ जन्म लेकर मैं अपना अहोभाग्य ही समझूँगा, बड़ा उपकार होगा उस धरणी का जो मुझे झेलेगी। बड़ा आभार मानूँगा उस जननी का जो अपने पयोधरों का अमृत पान कराएगी। उऋण कैसे हूँगा उन शुद्ध नाम पिता से जो मुझे जीवन-दान देकर लोक-सेवा का अवसर देंगे। जानते हो, देवगण ! सेवा का अवसर पाना ही, सबसे बड़ी वर-प्राप्ति है।.......और देवो, इस समय मनुष्य की आयु-अवधि क्या है?'

'एक सौ वर्ष।'

'ठीक है। अन्यथा मनुष्य का आयु काल सहस्र वर्ष होने पर बुद्ध का जन्म लेना अनुचित है। क्योकि ऐसे समय मनुष्य जन्म, जरा और मरण को भूल जाता है। भूलना मानव स्वभाव है और अपने स्वभाव की परिधि में वह सुख और दुख को समा लेता है। वह अपनेपर किए उपकार को बहुत जल्द भूल जाता है, तभी न मनुष्य की कृतघ्नता के समक्ष श्वान की कृतज्ञता आदर्श रूप में प्रस्तुत की गई है।'

'ज्योतिर्मय ! विश्व को ज्योति दो, मनुष्य का स्वभाव विस्मृति के गर्त्त मे गिरे, न गिरे, उसका उद्धार कीजिए रूपनिधान ! जिस प्रकार एक हजार वर्ष अधिक है मनुष्य के समुचित उद्धार के लिए, उसी प्रकार सौ से कम वर्ष भी अनुपयुक्त हैं, क्योकि ऐसे अल्पजीवी मृत्य के अतिचारी होने की सभावना है।

और प्रभो, किसी अविचारी, अतिचारी को दिया उपदेश सुचिक्कन घट की पेंदी पर गिरे जल के समान है। पाषाणों की गोद में बोये बीज की तरह है। बधिर के सम्मुख बजी बीन की भाँति है। इसलिए, हे अमिताभ ! खोलो, खोलो अपने ये अमितप्रभ नेत्र और ज़रा वसुन्धरा की ओर देखो, उसकी गुहार का उत्तर दो, दयानिधे ! उत्तुंग शैल-शिखर पर खड़ा प्रज्ञाचक्षु पुरुष जिस भाँति चतुर्दिक् प्रजा को देखता है, उसी भाँति हे सुभद्र ! हे सर्वत्र नेत्रवाले ! धर्मरूपी प्रासाद की उत्तुंग अटा पर चढ़ कर सब जनता को देखो।'

पलक खुले। हाथ मे रखी गोल गुठली की तरह मैंने पृथ्वीतल को देखा। समस्त भूलोक, चर-अचर, पृथ्वी-पाताल, गिरि-निर्झर, वन-वनान्तर, पर्वत-उपत्यका और सप्तसिन्धु देखे, इस तरह देखे सप्तसिन्धु कि प्रातःकालीन पद्म-पंखुरिया के एकान्त कोने पर जल की अकेली बूंद पड़ी हो। काल देखा। देश देखे। अपना भावी कुल-परिवार देखा, और देखी अपनी अम्बा, उसकी कालायु देखी .. मेरी आँख में आँसू भर आए, यह तो मुझे जन्म देते ही लोक छोड़, परलोक चली जाएगी कि जैसे कोई नित्य का पंथी देस छोड़ परदेस चला जाता है।

देवगणों की पुकार फिर मेरे कानो में आई और मैंने उन्हे अपना निश्चय बता दिया—'ठीक है, सुर सपूतो ! बुद्ध भू-लोक में जन्म लेगा, ताकि संसार का सम्यक् सत्पथ प्रदर्शित करे, लेकिन, नहीं जानते क्या तुम कि भरतखण्ड को छोड़ शेष तीन भूखण्डों में तो सम्बुद्ध का अवतार नहीं होता, केवल धन्य भूमिभाग भारतवर्ष मे ही उनका प्रादुर्भाव होता है। और इसमें भी मध्यदेश सभी पुण्य-प्राण पुरुषों की प्रिय भूमि है। यही उत्पन्न होते हैं बुद्ध, यही जन्म लेते हैं प्रधान, अप्रधान शिष्य और अस्सी महाशिष्य। यही चक्रवर्त्ती का जन्म होता है। बड़े-बड़े ज्ञानी, पंडित, मेधावी, धुरंधर, विद्वान और साधक, संन्यासी, साधु, विरागी, तपस्वी और त्यागी यही जन्म स्वीकार कर मुक्ति और निर्वाण को प्राप्त होते हैं। इस लोक में जन्म लिए बिना, किसी को मुक्ति नहीं मिलती। देव, तुम अपने वर्ग को मनुष्य से बड़ा बखानते हो। संसार तुम्हें 'अमर' कहता है, परन्तु तुम्हारी मुक्ति तो तभी संभव है, जब तुम लोक मे जन्म लो। लोक-जन्मा जीव इस दृष्टि से तुमसे अधिक भाग्यवान है। संघर्ष रहित है तुम्हारा जीवन, किन्तु धन्य हैं वे लोग जिनका जीवन संघर्षमय है। और मधुर है वह फल, जो संघर्षो-परान्त प्राप्त होता है। व्यर्थ है वह सिद्धि जिसके पूर्व घोर-कठोर साधना न हो।'

फिर मैंने सोचा, इसी मध्य देश में स्थित है महानगरी कपिलवस्तु। यहीं मुझे जन्म लेना है। और मैंने अपने इस विचार को निश्चय की मुद्रा दी। यही होगा।

'तथास्तु'—मैंने कहा।

और देवगण हर्षित वदन-मन लौट गए।

फिर चित्र-विचित्र सुमनो की बहुरगी वर्षा हुई। मंद-मद मारुत बहे। धरणी के अग-अंग में आनन्द का कम्पन आया।

अन्धकार भयभीत होकर भाग चला और अत्याचार की गुहा के कृष्णनीड़ में अपने अस्त्र तेज करने लगा।

भावी बुद्ध के जन्म-निश्चय का अभिनन्दन हुआ। दिशाओ ने अपने शंख बजाए। सरोवर में सरोज ने अपने प्रसून सजाए। अम्बर से ज्योति-किरण छूटे। अवनी पर निर्मल कल-कल जल के उत्स फूटे।

चाँद ढलक कर विशाखा नक्षत्र में आ गया। कपिलवस्तु की राजरानी को जाने क्यों रोमांच हुआ!

'मै निश्चय ही बुद्ध होऊँगा'—मैंने कहा।

फिर रात अधूरी बात की तरह जल्दी-जल्दी ढलने लगी।



[५]

बाल्यकाल की वह घटना कभी न भूल सकूँगा :

'देव....ओ देव् अ्....

'देवदत्त ! बन्धु सुनो....बाण न मारो । इसे न मारो देवदत्त मैं तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ। देव....हाय-हाय तुम न माने आततायि !....'

फिर मैं सिसक-सिसक कर रोने लगा।

बचपन की वह बात सदैव याद रहेगी। नन्हा विहंग मेरे हृदय से लगा था। उसके अंगो से लहू की पतली धार बह कर उसकी श्वेत देह को रंग रही थी। मेरे आंसू उस रंग को न जमने देते थे। कपोत के निरीह नयनों में वेदना और करुणा का अत्यन्त मर्मवेधक भाव था। प्राणों की सारी ममता उँडेल कर वह मेरी ओर देख रहा था।

देवदत्त समीप आया। खिलखिलाने लगा। उसकी छायाकृति देखते ही पंछी ने अपने नयन मूँद लिए। और दुबक कर मुझसे चिपट गया। मेरा मन गद्गद् हो गया।

निरस्त्र, निस्सहाय पंछिओं और विहगो में भी ममत्व और जीवन की जो पुकार है, वह भी इन हिंस्र मनुष्य में नहीं !

मैं सोचता बैठा रहा—दूसरो को मार कर व्यक्ति कब तक जीवित रहेगा ? जिन पक्षियो को देखने मात्र से मन का मोह उमड़-घुमड़ आता है, उन्हें कोई क्यो कर अपना लक्ष्य बना सकता है ? अपना भक्ष्य बना सकता है ? अवश्य, मानव-स्वभाव में कहीं न कहीं दानवता का अंश शेष है। केवल विनोद और मृगया के नाम पर, कोई किसी जीव को क्यों मारे ? देश की सीमा बढ़ाने के लिए समर क्यों ठाने ? तब तो ये योद्धा 'मनुष्य' को भी अपना शिकार बना सकते हैं। जो एक की मृत्यु को सहज मानता है, वह दूसरे के मरण को असहज क्यों मानेगा ? तूणीर, बाण, निषंग लिए फिरते हैं। इनके हाथ किसी नरभक्षी सिंह या भालू के पंजे से कम हैं ?

व्यक्ति की प्रकृति को इस ओर से विमुख करना होगा। मानव-स्वभाव मे गति-परिवर्त्तन आवश्यक है।

अपने कंधे पर कोमल कर का स्पर्श जान, मैंने पीछे देखा—छलाछल आँखें भरे *कृशा गौतमी खड़ी थी : 'तुम जल ले आओ कुमार ! तब तक मै इसके घावो पर पट्टी बाँध देती हूँ। यह देवदत्त बड़ा कायर है।'*

गौतमी ने नभचारिणी खगी को अपने वक्ष से लिपटा लिया।

देवदत्त क्रोध से उसकी ओर देख रहा था। मै जानता था कि यदि मैं यहाँ से टला तो देवदत्त गौतमी को पीड़ा देगा।

मैंने कहा—'देव, तुम भवन चलो, हम आते हैं।'

'पहले मेरा कपोत दो।'

गौतमी के हाथो मे कपोत देख, उसके मन में ईर्ष्या हो आई थी।

'तुमने अपना कपोत तो मार डाला।' गौतमी बोली।

'तू मत बोल री।'

'तुमसे कौन बोलता है कायर....दिन भर चिड़ियों को मारता फिरता है। एक दो सिंह मारे तो जाने...तुझे...'

'अच्छा, फिर कह री।'

'फिर क्यों कहूँ ? मै क्या तेरी दासी हूँ रे ! मै अरिमर्दन रूपवर्मन की कन्या हूँ।'

"तभी तो तेरी बात सुनता हूँ। अब मैं सिंह लेकर ही लौटूँगा।...अच्छा, मेरा कपोत दे दे।"

"यह कपोत नही, मुक्ता-आहारिणी हंसिनी है। तुम बकदेव इसे लेकर क्या करोगे ? इसके प्राण ही लोगे।"

फिर वह मेरी ओर मुड़कर बोला—"कुमार, यह पंछी मेरे बाण से विद्ध होकर गिरा है।"

मैंने कोई उत्तर न दिया।

वह अपने दुराग्रह पर अटल रहा—"सुनते हो, इस हंसिनी का शिकार मैंने किया है।"

गौतमी बोली—"सिद्धार्थ, पछी को यो अपने अंक से न लगाओ। तुम्हारे रेशमी वस्त्र उसके बहते शोणित से लाल हो जाएंगे।"

"कपड़ों का क्या है गौतमी, मुझे तो ऐसा लग रहा है यह बाण मुझी को लगा है।" फिर मैंने उस श्वेत-मेघवर्ण राजहंसिनी के परों में फँसा हुआ शर धीमे-

धीमे निकाला। उसका फलक लहू से आरक्त था। हंसिनी मेरी ओर भीगे नयनों से देख रही थी।

देवदत्त ने कहा—"कुमार! क्षुद्र पंछियों के प्रति ऐसी कातर करुणा तुम्हें शोभा नहीं देती। यह तो निरी कायरता है। मैं देख रहा हूं कि तुम्हारी आंखों में वही विलक्षण भाव छाया रहता है जो प्राय. रण से विमुख क्षत्रियो की आंखो में होता है। आज तुम एक पंछी पर शर-संधान देख कर इस प्रकार विचलित हो गए, सम्भव है कल समरागण में किसी विपक्षी की मृत्यु तुम्हें अधिक अन्तर-बेधक प्रतीत हो। खैर, मैं इस बहस मे नही पड़ूंगा, मेरा शिकार मुझे दे दो।"

मैं चुप था, परन्तु कृशा से न रहा गया—"देव, तुम में इतनी भी शर्म नही कि कुमार ने जिस घायल पंछी को अपना पंछी माना, उसके लिए अभद्र शब्दों का प्रयोग करते लजाओ।"

"सिद्धार्थ, शिकार मेरे शर से गिरा है, मुझे दे दो, मैं चला जाऊंगा।"

"मैंने न कहा था कि, तुम अपने कपोत की हत्या कर चुके। अब कौन-सा शिकार मांग रहे हो? और, दूसरो को वीरता का उपदेश देनेवाले! शिकार क्या किसी से मांगा जाता है?" गौतमी का रोष था।

तब मै बोला—"तुमने देवदत्त, अपने पंछी को मार दिया, गौतमी यह ठीक कहती है। माना कि शर तुम्हारा था, किन्तु पंछी के प्राण तो मैंने बचाए।"

"तुम तो प्रतिदिन एक न एक पशु की जान बचाने का दम्भ दिखाते रहे हो। उस दिन हम आखेट के लिए गए थे। वन की पगडंडियों पर जब हमारे घोड़े सरपट दौड़े जा रहे थे, तुमने अचानक रुक कर अपना अबलक्ष अश्व (काले रंग का अबलक घोड़ा) खड़ा कर दिया! बात सिर्फ इतनी ही थी कि तुम्हारे घोड़े का श्वास चढ़ गया था। उस पर दया कर तुम रुक गए थे। और तुम्हारी इस अनोखी दया के शुभ परिणाम मे हमें अपने शिकार से हाथ धोना पड़ा।"

इस बीच गौतमी ने वह रक्तस्नात् बाण देवदत्त के हाथों में थमाते हुए कहा—"लो अपना यह शर, सम्भाल कर रखो इसे। फिर किसी हंसिनी की हत्या के काम आएगा।" और तनिक ईषत् स्मिति से उसकी अधरज-लालिमा और गहरी हो गई।

तर्क में देवदत्त कम न था। उसने कहा—"गौतमी, यदि मै अपने धनुष पर अपना बाण न चढ़ाता, तो, कुमार के हाथो में यह हंस कैसे आता?"

मैंने उत्तर दिया—"देव, विश्व के समस्त प्राणियों को देह और जीव प्रभु ने दिया है। याद है, उस दिन महर्षि असित ने क्या कहा था? ईश्वर के दिए इस

जीवन को नष्ट करने का अधिकार किसी को नहीं है। किसी को यह हक नहीं है कि वह किसी की हिंसा करे। सीधी-सी बात है, तुमने इस भोले प्राणी को मारने का प्रयत्न किया, तुम इसके देह-प्राण पर अपना अधिकार खो चुके। अब यदि यह मेरी सुश्रूषा से स्वस्थ हो जाए तो, मेरा न कहोगे इसे ?"

चपल गौतमी बेचैन खड़ी थी। वह कभी इस पैर पर खड़ी रहती, कभी उस पैर पर खड़ी रह कर, दूसरे पैर की पगतली अपनी हथेली मे लेती। उजली हथेली मे, उसकी अरुण एड़ी सुहावनी लग रही थी। फिर से उसके चेहरे पर चपल मुस्कान लहराई और मैं जान गया कि वह फिर कुछ कहेगी। बोली—"महारथी देवदत्त ! संसार में मारनेवाले से, बचानेवाला बड़ा होता है। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे 'पुत्र' ! अब तुम जा सकते हो।"

'मैं अपना हस लेकर ही लौटूँगा।'

'कह जो दिया, नही मिलेगा—गौतमी झल्लाई—'अच्छा, तुम दोनों वहाँ दूर, सामने कचनार के तले खड़े रहो। इधर से मैं हंस को छोड़ती हूँ, यह जिस के पास चला जाएगा, उसी का हो जाएगा। किन्तु फिर बखेड़ा न करना पहले से बताये देती हूँ।' गौतमी ने अपनी नीलम-नगजड़ी-सुनहरी-अँगूठीवाली-उँगली उठाकर, उसे अधरों तक छुआकर कहा।

और तब हम सबने विस्मय पूर्वक देखा—वह राजहंसिनी अपनी मोहक मद गति से चलती देवदत्त के निकट गई। दो पल रुकी, और 'कूँ-कूँ' के कलरव में कुछ कहकर, तुरत मेरे पैरो से चिपट गई !

मैं तो चुप रहा पर गौतमी ने बड़े जोर से खाँसकर विजय की घोषणा की।

नीचा मुँह किए देवदत्त चला गया। परन्तु हम दोनो उसे देखते सहम गए, क्योकि उसके चेहरे पर कालिमा उभर आई थी, मन का अशुभ निश्चय जिसमें झलक रहा था !

कपोत के लिए कृशा ने अपनी ओढ़नी की पट्टियाँ बनाईं।

हम उसे कुंजो की छाया मे ले गए।

गौतमी उसे अपने पतले ओठों से चूमती-पुचकारती रही।

जब हम उसकी परिचर्या कर चुके तो कृशा बोली—'सुनो सिद्धार्थ।'

—मैंने उसके अनियारे लोचनो की ओर देखा। अतल सागर की मौन गंभीरता उनमें थी। सामने की शिला पर वह बैठ गई। इधर-उधर उसने देखा। कपोत को अपने वक्ष में और सुरिक्षत कर लिया, फिर कहने को स्तुत हुई।

मुझे भय था कि गौतमी वही कहेगी, जिसे सुनने को मै अप्रस्तुत हूँ।

पर वह तो कुछ और ही 'सदेस' लाई :

'कुमार, अपने मन को मत मारना।...मेरी सहेली को जानते हो। वही, जो नाग-नृत्य के दिन मेरी बाई ओर थी। वही इकहरी देहवाली। गोरी गोरी। जिसकी नाक में नीलम की कील थी। सुतीक्ष्ण, दीर्घ, नील नेत्रों में एक पारदर्शी पारस था, जिस पर चाहे तो कोई अपने मन का कंचन परख सकता है। उसी भोली वाला की विनती मैं तुमसे निवेदित करना चाहती हूँ सिद्धार्थ! अन्यथा जानते हो, कृशा गौतमी ने आज तक किसी का मुँह न जोहा।'

'जानता हूँ गौतमी, तुमसे जो परिचय है वह नूतन नहीं सनातन है।'

कृशा मुस्करा दी। उसके अनमोल कपोल आरक्त हो उठे। कहने लगी—

'मेरी वही सहेली तुम्हारे सपने देखती है।'

मैं स्तब्ध था। ऐसी स्थिति पर क्या जवाब दूँ, यही सोचता रह गया।

मैंने नजरें उठाईं। कृशा गौतमी एकटक मेरी ओर देख रही थी। आँखें मिलते ही लजा कर उसने दृष्टि नीची कर ली।

अब मैं उसे भली प्रकार देख सकता था। पन्द्रह वर्ष की वह बहुत ही चपल किशोरी थी। समस्त कपिलवस्तु, दूर और निकटस्थ जनपद नर्त्तकी के रूप में उसका नाम जानते थे। विधाता ने उसके चरणों को नृत्य की सारी गतियाँ देकर जन्म दिया था। उसके अलक-पलक नाचते थे, नयन-नासिका नाचते थे, अधर, वाणी, अलकें नाचती थीं, अगुलियाँ, बाहुमूल, कटि और चरण नाचते थे। उन की गति में नृत्य था। उसकी सारी काया में नृत्य की माया थी।

किसी अज्ञात किशोरी का स्वप्न निवेदन सुन मेरा हृदय उद्वेलित हो गया!

जिस संसार में साँप और सपेरे बसते हैं, उसमें न रहने के मेरे निश्चय का क्या होगा? शोषको, शासको, सामन्तों, पुरोहितों और श्रेष्ठियों के भेष में विषधर साँपो के समुदाय जिस ससार में नि:शक होकर विचर रहे हैं, उनमें साधु कैसे रहेगा?

साँपो का सम्बन्धी ही सर्प-लोक का वासी हो सकता है।

और...ज्यों....ज्यों मैं दुनिया से दूर नए ध्रुवों की खोज में जाना चाहता हूँ—नई ज्योति के नूतन आलोक के निमित्त दूर निकल जाना चाहता हूँ, त्यों-त्यों यह धरती अपने लिए सोचने को मुझे मजबूर क्यों कर देती है?

वयसंधि के द्वार खड़ी वह तरुणी...! मैंने तो उसे यों ही देखा था...यह मायाविनी गौतमी कौन-सी बला ले आई है?...

सहसा, मैंने यों ही पूछ लिया : 'और उसका नाम क्या है?'

'उसका नाम बड़ा मधुर है कुमार!'

'मधुर हो या तिक्त कहो भी...'

सामने आचार्यवर आ रहे थे। मैंने अपना कपोत ले, चलना चाहा।

युवक-युवतियों का एकान्त सेवन हमारे यहाँ वर्जित था। आचार्य के पूर्व-स्वर मेरे श्रवणों में मुखरित हो उठे—'कुमार, इस जगत् मे मार के उपहार अत्यन्त मोहक हैं। तुम उनके वक्रचक्र में न फँसना। इस व्यूह में प्रवेश सरल है, पर उपवेश दुष्कर है....'

परन्तु, गुरुवर नही जानते थे कि उसी दिन मैंने इस व्यूह से 'निष्क्रमण' करने का प्रण कर लिया था। ..

आर्य तब तक निकट आ गए।

गौतमी उठ खड़ी हुई। कपोत देते कहने लगी—'मेरी उस सगिनी कपोती का नाम है यशोधरा!'

'यशोधरा' नाम मुझे शोभन लगा।

नाग-नृत्य के दिन देखी उस शीतल, तन्वंगी, नील मीनाक्षी बाला की नृत्य-मयी मुद्रा मेरे सम्मुख गतिमती हो गई।

और आचार्य के वचन 'प्रश्नचिह्न' बन कर दीर्घाकार धारण करने लगे। बढते-बढते उन्होंने मेरे समक्ष-स्थित चित्रों को ढँक लिया, ढँक लिया......!

और एक दिन जब यशोधरा हमारे यहाँ निमंत्रित थी। गौतमी भी आई थी। देवदत्त भी था।

देव ने सबको डरा दिया। वह आततायी जाने कहाँ से सिंह का एक शावक पकड़ लाया। मेरा मन सहम गया। मनुष्य के स्वभाव-मूल मे क्या क्रूरता ही है?

और इन किशोरियों के मध्य, इन बालिकाओं के बीच कपोत, हिरन और मयूर के स्थान पर सिंह और शूकर ले आना, आर्य नारी की अवज्ञा नही तो उसके प्रति अभद्रता तो अवश्य है।

मैं एकात में जाकर आँसू पोंछ आया। मेरे मन में आया कि देवदत्त को अच्छा पाठ पढा दूँ। पर वह हमारा सम्बन्धी जो ठहरा। यदि परिवार मे विग्रह होगा तो कुल विभक्त हो जाएँगे और कुलो की विभक्ति कपिलवस्तु के शत्रुओ के हर्ष का कारण बनेगी।

सामने जो देखा गौतमी के कंधे पर अपनी गोरी बाँह टिकाए एक अल्हड़ बाला खिलखिलाती आ रही थी। कोई बात रही होगी कि दोनों की हँसी रुकती न थी। मुझे देखते ही किशोरी की वह चपल स्मिति पावसकालीन धूप-छाया की

भाँति उड़ गई। तनिक वह लजा गई। पहले उनकी लाज लोचनों में झलकी। फिर कपोलो पर उसकी परछाई निखर आई। और इन दोनों का रहस्य अधर-संपुट में लालिमा की लहर बन कर समा गया। फिर भी मुस्कानें अमृत घोल गई।

जब वे और निकट आई तो मैंने देखा—अरे, यह तो यशोधरा है! वही, जो नाग-नृत्य के दिन जी भर कर नाची थी।

और मुझे भान आया—उस दिन अम्मा इसी के लिए कहती थीं।.. .इसी यशोधरा को अपनी बहू बना लेने के लिए वे विकल थी। अब-जब मैंने इसे देखा तो माँ का वह चेहरा याद हो आया, यश की चर्चा से जो चमक उठा था। विचित्र है यह विश्व! माँ को बेटा ही नहीं चाहिए, बहू भी चाहिए। बेटे से अधिक प्यार वह बहू को देना चाहती है। प्यार जो कालान्तर में बहू के आँचल का दीपक बन कर, घर मे उजेला करता है।

गौतमी आगे बढ़ी।

यश भी बढी। वह और समीप आ गई। फिर, ठिठकी, खडी रह गई।

मन ही मन तो कृशा गौतमी पर खीझ रही होगी, कि, कृशा ने कहाँ लाकर खड़ा कर दिया। और अवश्य चिढ़ी थी वह अपने जी में। तभी न उसके कपाल पर दो सल पड़ गए थे। नेत्र अरुणतर हो गए थे। और कपोलो की लालिमा दुहरी हो गई थी।

लेकिन, उस दिन की अपेक्षा भी, आज मुझे यश अच्छी लगी। पीली साड़ी पर नन्ही-जामुनिया चोली उसने पहनी थी। गहन नील अन्तरीय की गोट साड़ी के नीचे झलक रही थी। उसकी हल्की कलाइयों मे मोतियो की दो-दो चूडियाँ थी और मुझे याद है उसके कमनीय कवरी-जूडे पर शेफाली की वेणी महक रही थी। और हाँ. .... ..उसके पीत-आस्तरण पर कृष्ण-चित्तियाँ थी। यशोधरा के इस परिवेश ने मुझे विमोहित कर लिया और एक ही पल में मानो मैं किसी दूसरे लोक मे पहुँच गया। यह वह लोक था जिसमे सहस्रो वर्ष पूर्व मेरा अधिवास था :

गहन कान्तार। बाँनमती के क्षेत्र। सुदूर तक दूरियाँ। विस्तीर्ण नीलाकाश। नीचे अछोर हरी धरती। दृष्टि की सीमा से असीम धान के खेत। झरते निर्झर। कलकल गाती पयस्विनी सरिताएँ। सूनी पगडंडियाँ। उत्तुंग चट्टाने। विराट नगराज। ऊँचे-ऊँचे पेड़। लम्बे-लम्बे गाछ। हिंस्र पशु। पालतू प्राणी। गौ और चीते। सर्प और मछलियाँ।

इसी विकट वन में मैं रहता था। करौंदी की मदविह्वला झाड़ियो मे मेरी माँद थी। अदूर ही कहीं से विचरण करती सिंहनी वह मेरे गुहाद्वार पर आ

खड़ी हुई। उसकी चाल और दामिनी-सी गति देख कर मेरा मन मोहित हो गया। उसके सुघड़ शरीर पर सुनहरे बाल चमक रहे थे। मुख और ग्रीवा पर सूनी दोपहरी की आधी धूप पड़ रही थी और पृष्ठभाग पर छाया झलक रही थी।

गुफा के सामने आकर वह निरीह नीची नजरो से कुछ खोजती प्रतीत हुई। मैं अपनी ग्रीवा के केश लहरा कर खड़ा हुआ। मेरा बाहर आना था कि देखा, एक बड़ा-सा केसरी इसके पीछे, झाड़ियों को लाँघ कर, आ खड़ा हुआ है।

सिहनी ने एक निरपेक्ष दृष्टि से उसकी ओर देखा और आगे बढ़ कर मेरे पास खड़ी हो गई।

सिंहबाला का मेरे पास आना, आगंतुक केसरी न देख सका और बाला पर झपटा, लेकिन मेरे एक ही थप्पड़ ने उसे वापस लौटा दिया।

एक वनकन्या के सम्मुख अपना अपमान देख, वह दूने क्रोध से, दहाड़ कर उछला। मैं तो प्रस्तुत था ही, फिर भी बडी देर तक हमारा द्वंद्व चलता रहा।

बड़ा अच्छा खेल था वह। कभी-कभी अपने विरोधी को सन्मार्ग पर लाने के लिए, उससे द्वंद्व भी आवश्यक हो जाता है। मेरे थप्पड़ और नाखून की चपेट से आगंतुक केसरी लहूलुहान हो गया था और उसके क्षत धूल से सन रहे थे। उस की बाईं आँख के करीब जो घाव था वह भयंकर था, और इससे उसकी दृष्टि में अवरोध आ गया था। और जब किसी व्यक्ति की दृष्टि में अवरोध आ जाता है, तब उसका पतन और पराजय निश्चित् है।

हार कर, दुम दबा कर वह चलता बना। सिंहनी मेरी ओर आई। पीपल की घनी छाया मे हम बैठ गए और सकरुण, सतृष्ण लोचनों से मेरी ओर देखती हुई, वह मेरे घावो को सहलाने लगी।

यह स्नेहशीला सिंह कन्या यशोधरा थी और कहना न होगा, कि वह पराजित सिंह, दूसरा कोई नहीं देवदत्त था।

फिर हम दम्पत्ति बने और पूरा वह जन्म सुखपूर्वक बीता।

और देख कर मुझे आज विस्मय हुआ : वही वनराजकुमारी-नीलम देश की राजकन्या यशोधरा के रूप मे मेरे सामने खड़ी है!

देवदत्त! दे व द त्त! सदा का मेरा परिचित। सदा का मेरा शत्रु। सदा का मेरा बन्धु और सदा का मेरा विपक्षी!

☆

[६]

भरतखण्ड के मध्यदेश मे जन्म लेने का मैंने निश्चय किया। यह मध्यदेश आर्यावर्त्त के ठीक मध्य में है। पूर्व मे कजंगल नामक निगम है। उसके परे महाशाल वन है। और उससे भी परे प्रत्यन्त प्रदेश है। मध्य मे है यह देश, पुण्य-सलिला सान्तवती सरिता के इस छोर पर बसा है, दक्षिणपूर्व में। और इस सालवतीय प्रान्तर से परे सीमान्त प्रदेश है। मध्य में है यह देश, दक्षिण मे सेतकन्निक नगर के इस ओर है। मध्य मे है यह देश, ब्राह्मणों का गाँव थूण है इनके पश्चिम में, जिसके पार सीमान्त प्रदेश है। मध्य में है यह देश, पर्वतकन्या उसीरध्वजा के इस ओर स्थित है, उत्तर में। उसीरध्वजा के पार सीमान्त का प्रदेश आ गया है।

नगराज हिमाचल की गोद में बना है हमारा कपिलवस्तु। श्वेत स्फटिक-निर्मित देवप्रतिमा पर जैसे कोई अरुण सुमन चढा हो, ऐसा लगता है हिमगिरि की गोद में यह कपिलवस्तु। यह सुरम्य नगरी नेपाल के दक्षिण में है। वाराणसी यहाँ से, समीप ही है, दूरी कोई तीस योजन होगी। नगराज के निर्मल अन्तर से स्नेहधारा-सी निकली है पुण्यतोया रोहिणी नदी। यह हमारे कपिलवस्तु के बाहर-बाहर बहती है,या यों कहे, इसके किनारे-किनारे बसा है हमारा कपिलवस्तु। हमारा से तात्पर्य मेरा अपना नही, शाक्यों का, क्योंकि शाक्यों ने ही तो इसे बनाया-बसाया, सजाया-सँवारा। मैंने तो कुछ नही किया, फिर भी मन में एक अलगाव से भरा लगाव तो रहा ही कि कपिलवस्तु नगर है हमारा। आखिर, कोई पूछे, तो मै यही कहूँगा कि हम कपिलवस्तु के रहने वाले हैं।

कपिलवस्तु के एक छोर पर मगध देश और दूसरे छोर पर कोसल देश बसा था। इन दोनो देशों में सदैव युद्ध होता रहता और दोनों के बीच वैर का विषधर अपनी फुकार-द्वारा विष का प्रसार करता जाता था। दोनों परस्पर सम्बन्धी थे। एक दूसरे को अपनी दुहिता देते परन्तु, कोई पिछला वैर था कि बारम्बार उठ खड़ा होता था। मगध और कोसल दोनो हमारे सम्बन्धी और

पड़ोसी प्रदेश थे । यद्यपि उनके वीच घमासान घिरता, पर कपिलवस्तु ने कभी उसमे भाग न लिया, क्योंकि हमारी नीति थी शांति, सहअस्तित्व और तटस्थता की । भला, इन दो प्रमत्त गजराजों के संगर में नन्हा-सा कपिलवस्तु क्यों पड़े ? वह तो एक सुकोमल कमल-नालवत् था । हमारे देश ने बहुतेरा प्रयत्न किया कि, ये उभय राष्ट्र सहअस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करें और शान्ति से रहे, और दूसरों को रहने दे । वड़े देश क्या यह नही जानते, या वे भूल जाते हैं कि हमारे इस अकाण्ड ताण्डव से छोटे देशों को हानि पहुँचती है । सो, मै कह यह रहा था कि आयासपूर्वक कपिलवस्तु तटस्थ रहा । हमारी तटस्थता का एक कारण यह भी था कि कपिलवस्तु का राज्य अभी अभी स्थापित हुआ था और हमें अपने देश और जनता की भलाई के लिए अनेक कल्याणकारी आयोजनों में वहुत वड़ा भाग लेना था और सचमुच, कई योजनाएँ थी हमारे पास, जिनके द्वारा जन-जन की हित-साधना का स्वप्न पूरा होता था। अत. हमने इन दोनों हाथियो को लड़ने दिया (जव वे न माने) और हम अपने निर्माण मे निरत रहे। फिर हमारे पूर्वजों के देखते-देखते मगध और कोसल युद्ध के प्रतिफल निर्जन और निर्वल होते गए । युद्ध से किसी का लाभ नही होता । दोनो ही पक्षों की अपार हानि होती है । तो, एक ओर कोसल-मगध निर्वल होते गए दूसरी ओर कपिलवस्तु का राज्य दिन-दिन समर्थ और समृद्ध होता गया । क्योकि हमारे लोग शान्त और श्रमी थे, सन्तोषी थे । धीरे-धीरे कपिलवस्तु और उसके परम प्रतापी शाक्यों के अनन्त वैभव की गौरवगाथा, कीर्ति कपोती के पंखों पर चढ़ कर देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर तक पहुँच गई । समस्त जम्बूद्वीप कपिलवस्तु के प्रताप से प्रभावित, प्रकाशित हुआ ।

मुझे उस दिन शैवालिका की माँ आर्या ने वताया कि रोहिणी नदी के दूसरे किनारे जो देवदह नामक मेरी मातुल भूमि है, वह भी कपिलवस्तु के समान ही रमणीय है। मुझे ठीक-ठीक स्मरण है, जव मै छोटा था एक निशा नीद नही आ रही थी। यो ही विचारो में, भावनाओ में मन डोल रहा होगा, भ्रमण कर रहा होगा, जैसा आज किया करता है । मुझे सुलाते हुए आर्या वोली थी—"कुमार जो चुप सो जाओ तो हम तुम्हें रोहिणी नदी की दो राजकुमारियो की कहानी कहें ।"

मैंने कहा—"मै तो चुप ही सोया हूँ ।" कहानी सुनने का लोभ मै संवरण न कर सका, यह तो मुझ मे आज भी है, खास कर कोई अच्छी कहानी हो, तो उसे सुनने-सुनाने की चाह मन में उठ ही जाती है ।

तव आर्या वोली—"यह तो जानते ही हो, रोहिणी के इस पार कपिलवस्तु और उस पार देवदह का राजनगर है । देवदह के राजा वड़े प्रतापी और सूरमा

थे। उनके दो राजकन्यायें थीं—अति सुन्दर, अति सुकुमारी। जिनके रूप की धूम शरदकालीन धूप की तरह समस्त धरती पर फैली थी। विगत कुछ वर्षों से कपिलवस्तु और देवदह के बीच इस बात पर विवाद चला आ रहा था कि—"रोहिणी नदी का जल किसका है? इस पर किसका स्वामित्व है?" एक राज्य कहता रोहिणी हमारी है। दूसरा इसका पूर्ण प्रतिवाद करता—नहीं, तुम्हारी नहीं हमारी है, क्योंकि हम इतने-उतने बरसों से यहाँ रहते हैं। सारांश यह है कुमार, कि दोनो राज्यो में झगड़ा बढ गया और एक दिन दोनों ने एक दूसरे को लड़ाई के लिए ललकार दिया।

बडी घनघोर थी वह लड़ाई। मैंने तो नहीं देखी, शैवालिका के पापा ने उसमें भाग लिया था..."

मुझे याद है यहाँ आकर आर्या रुक गई थी, उनका कण्ठ भर आया था और उन्होंने आँचल से आँखें पोंछी थी।

"तो कुमार इस युद्ध में सहस्रों वीर काम आए। रोहिणी नदी के ठडे जल के लिए दोनो तीर के वीरवरों का उष्ण लहू बहा। रोहिणी नदी के जल की धाराओ का रग पलट गया—पहले श्वेत थी, अब लाल होकर लहराने लगी। कपिलवस्तु के शाक्य राजा ने देवदह के कोलिय राजा को हरा दिया। शाक्यो की जीत पर जीत हुई और कोलियो की हार पर हार हुई। अंत में उन्होने हमारी शर्तो पर शाक्य राजा से संधि कर ली। और कुमार, क्या तुम्हे नींद आ गई, मैं कहती हूँ संधि ही नहीं की गई, नदी की जल-धाराओ का समस्त अधिकार भी कपिलवस्तु के जनपद को मिला। कोलिय राजा ने अपनी उन दोनों सुन्दर, अति सुन्दर राजकन्याओं का विवाह शाक्यराज से कर दिया....और जानते हो, कौन थी वे राजकन्याएँ?"

"नहीं, तुम्ही बताओ!"

"कोलिय राजा की उन राजपुत्रियों का नाम है, महामाया और प्रजापति गौतमी।"

"महामाया तो मेरी माँ थी ना आर्या?"

"हाँ।"

"और प्रजापति देवी?"

"वह भी तुम्हारी माँ है सिद्धार्थ।"—कहते, एक छाया मूर्ति ने भीतर, हमारे कक्ष में प्रवेश किया। आर्या उठ खड़ी हुई। मैंने रत्नदीप के झिलमिल प्रकाश में माँ प्रजापति की इकहरी छाया देखी। उनके श्वेत-रक्त वदन पर मधुर मुस्कान थी।

उन्होंने मुझे अपने अंक में भर लिया और मेरी देह सहलाने लगी। फिर मुझे नींद आ गई होगी।



[७]

फिर एक दिन मैंने छन्दक से यों कहा :—

"भद्र सारथि ! अच्छे-अच्छे, उत्तम रथों को जोतो। आज मैं उद्यान-भूमि की छवि देखने जाऊँगा। सब साथी भी चलेंगे। देवदत्त और कृशा गौतमी को भी बुलाओ और गौतमी की वह जो सहेली है न....क्या नाम है उसका, ...अजी, वही महाराज दण्डपाणि की पुत्री...हाँ...याद आया, यशोधरा ! उसे भी बुलवाओ। हम सब राजोद्यान की शोभा का दर्शन करेंगे।"

कुछ देर से छन्दक लौट आया—"देव ! राज-परिवार के उत्तम रथ तैयार हैं, अब आप जो उचित समझें, आदेश दीजिए।"

"और साथी क्या सब आ गए ?"

"दीर्घायु हो देव, वे सब प्रतीक्षालय मे कुमार की प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

"अच्छा जाओ, उन्हें हमारा सधन्यवाद कुशल कहो।"

"जो आज्ञा देव !"

"ज़रा सुनो तो, कुमारी यशोधरा भी आई हैं न ?"

"अवश्य, वे भी प्रस्तुत हैं, अभी राजमाता प्रजापति के कक्ष में गई हैं।" और जाते-जाते छन्दक एक मुखर मुस्कान छोड़ गया। मैं अविलम्ब ही तैयार हुआ। परिवेश पहनते समय मेरे मुँह से गीत की वह कड़ी गूज-गूज जाती थी, जो यशोधरा ने उस दिन सुनाई थी।

प्रशस्त राजपथ पर अपार भीड़ थी। सान्ध्यकालीन सुवेला में हमारे स्वर्ण-रथ शनैः शनैः बढ़ रहे थे। मेरे रथ का वाहक अश्वराज बलाहक था। बलाहक नभचारी था। आकाश में उड़ना उसके लिए साधारण बात थी। रंग उसका पूर्ण अवदात, बिलकुल उजला था। सिर उसका श्याम था और मुंज-जैसे उसके अयाल थे। कहते हैं जब से अश्व रत्न बलाहक कपिला मे आया, तब से समस्त नगरी की ऋद्धि-सिद्धि में वृद्धि हुई।

सुमन्द बयार का स्पर्श पाते हुए, कपिलवस्तु की शोभा निरखते हुए,

पारस्परिक व्यंग्य-विनोद के बीच हम बढ़ रहे थे कि देवदत्त ने पूछा—"छन्दक, हमारा यह पुर-पट्टन कितना लम्बा-चौड़ा है ?"

"देवकुमार, चारों दिशाओं पर विजय-पताका फहरानेवाले मूर्धाभिषिक्त नरराज शुद्धोधन की यह नगरी पूर्व से पश्चिम तक लम्बाई में बारह योजन है। उत्तर से दक्षिण तक इसकी चौड़ाई सात योजन है। यह सर्वथा समृद्ध, समुन्नतिशील और सुन्दर है। देवों की नगरी आलकमन्दा इसके सम्मुख प्रभाहीन है। कुमार, पाटपुरी कपिला प्रति याम दस शब्द-ध्वनियों से गुंजित रहती है। तभी न, सुन रहे हो यह कोलाहल! इन दस ध्वनियों में हैं। हाथी के चिंघाड़, अश्वों का हिनहिनाना, सुवर्ण रत्न रथो का वेगवन्त खर् खर्, भेरि-रव, मृदंग की मेघमन्द्र ध्वनि, वीणा की तान, गीत के बोल, झाँझ की झंकार, ताल की तट्ट-पट्ट, शंख का निनाद, और 'खाओ-पीओ' के उल्लास भरे आमन्त्रण।"

बीच में मैं बोला—

"और भूल गए क्या छन्दक, उस वृद्ध भिखारी को?—'एक कार्षापन दो बाबा, इस जीव को रोटी का टुकड़ा मिले बाबा।' ये शब्द तुम्हारी दस ध्वनियों की सूची में सम्मिलित नहीं? इन्हें क्या कपिलवस्तु-वासी शब्द नहीं मानते? या राजपरिषद द्वारा बहिष्कृत हैं ये?"—सुनकर देवदत्त खिलखिला उठा, मैं भी मुस्करा दिया और मेरा मुख-देखता छन्दक भी हँस दिया। शायद उसे इस बात की अधिक खुशी थी कि मै आज प्रसन्न हूँ। देव से वह बोला, जैसे, भिखारी-विषयक मेरी स्मृति को बहा ले जाना चाहता हो—"देवदत्त, इस नगरी के चारों ओर सात प्राचीर हैं। आज तक किसी दस्यु आक्रमक का कभी साहस न हुआ कि इन्हे लांघता! इन सात प्राचीरों जैसे ही सप्त प्राकार हैं राज-भवन के चहुँ ओर! इनमें एक है सोने का, एक चाँदी का, एक वैदूर्य का, एक स्फटिक का, एक पद्मराग का, एक मसारगल्ल का और एक विविध प्रकार के रत्नों का।"

रथ को एक धक्का-सा लगा और वह रुक गया। सामने एक अंधी महिला अपनी किशोरी कन्या का सुकर थामे पथ को पार करने का प्रयास कर रही थी। वह तनिक आगे बढती कि एक न एक वाहन देख कर किशोरी उसे रोक लेती। दोनो दो पल रुक जाती और महिला फिर से आगे बढती कि दूसरी ओर से पुन: वाहनों की अभंगमाला उन्हे पथ से परे रहने की पुकार मचाती। इस टांवाटोल स्थिति में माँ-बेटी पड़ी थी कि तीसरी दिशा ने उस चौराहे पर हमारा रथ, पीछे से पहुँचा। बलाहक के गुंजित टापो का शोर सुन दोनो ने चौंक कर, मुड़ कर पीछे देखा और छन्दक की कथा में अवरोध आ गया।

रथ रुका। और फिर चला। और फिर से चली छन्दक की चर्चा—राज-

धानी के चार चतुरंगी द्वार हैं। उनमें एक द्वार है कंचन का, एक रजत और एक वैदूर्य का। चतुर्थ द्वार स्फटिक का है।'

"लो, यह आ गया शिशिर-प्रासाद का राजोद्यान---देवदत्त का एक साथी बोला---"आज यहीं की सैर की जाए।"

सारथी ने वेगवान अश्वों की वल्गा खींची और धीमे-धीमे वे रुक गए। हम सब नीचे उतरे। अन्य साथियों के उतरने की प्रतीक्षा मे मैं पथ पर खड़ा था कि मैनें देखा, यशोकुमारी अपने रथ से उतरने के प्रयत्न में, रुक कर रह-रह जाती है। रथ का पायदान तनिक ऊँचा था और पथ तनिक नीचा था। मैंने तुरन्त बढ़ कर अपना हाथ बढ़ाया और उसे सहारा दिया। मेरी हथेली में अपना हाथ दे वह नीचे उतरी और मुँह से 'धन्यवाद' न कह कर, केवल अधरों में मुस्कराई। स्थिति के उस माधुर्य को मेरे प्राण स्पर्श भी न कर पाए थे कि चौराहे से एक आर्त्तनाद उठा---"बचाओ, कोई दौड़ो ये आततायी प्रहरी मुझे लिए जा रहे हैं।"

मैं आगे बढ़ा, यशोधरा भी बढ़ी और शेष साथी भी चले। हमने देखा एक मैली-काली-कुरूपा स्त्री को प्रहरी पीट रहे हैं। उसकी नग्न पीठ पर वे निर्दयता पूर्वक कोड़े मार रहे हैं। उसके क्षत से लहू की धारा बह रही है। और अब तो लाल लहू के बीच श्वेत मज्जा की रेखा दीखने लगी है। उस अभागिन के बाल बिखरे हुए थे। आँखों से आंसू बह रहे थे और वह अपनी उस 'हाय पुकार' से राहगीरों का ध्यान खींचती थी, जो अब अधिक भारी पर धीमी पड़ गई थी!

मैंने पूछा---"छन्दक यह अभागिन कौन है?"

"यह एक अन्त्या है कुमार, चाण्डाल के घर की है। कल रात, पूजा-प्रसाद के प्रलोभन से ब्राह्मणों के देवमंदिर में घुस आई थी, उसी के दण्ड-स्वरूप, इसे राजराह पर कोड़े लगाए जा रहे हैं। ताकि दूसरे लोगो को भी शिक्षा मिले।"

देवदत्त ने प्रहरियो को रोक दिया। मैंने देखा कि कृशा की आँखें छलाछल भरी हैं और यशोधरा कुमारी तो सिसक सिसक कर रो रही है। मैंने उसे न रोने का संकेत किया तो वह कृशा के कंधे पर अपना माथा ढाल कर और फफक-फफक कर रो पडी।

मैंने पूछा---"छन्दक, ब्राह्मणों के मन्दिर का देव क्या केवल ब्राह्मणों को ही दर्शन देता है?"

"क्षमा करे कुमार, मैं क्या जानूँ।"

"मैं जानती हूँ,"---कृशा बोली, "ब्राह्मण कहते हैं कि ब्राह्मण-वर्ण श्रेष्ठ है, दूसरे वर्ण छोटे हैं। ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण हैं अन्य वर्ण कृष्ण हैं। ब्राह्मण ही शुद्ध

हैं, अब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण ही ब्रह्मा के पुत्र हैं, ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्मज, ब्रह्म-निर्मित हैं, ब्रह्मा के दायाद हैं।"

"यह मात्र मिथ्या दम्भोक्ति है।" मैंने कहा।

"लेकिन, सिद्धार्थ, क्या ब्राह्मणों की ब्राह्मणियाँ ऋतुमती और गर्भवती नहीं होतीं ....?" कृशा बोली।

सहसा हमने उस अन्त्यजा के पीड़न से मर्माहत यशोधरा को बेसुध होते देखा। कृशा ने उसे थाम लिया और छन्दक के साथ दूसरी लड़कियों ने सहारा देकर उसे रथ में लिटाया।

ब्राह्मणों के इस अतिचार से मेरा मन विक्षोभ से सुलग उठा। उनमें से कुछ निर्लज्ज तो वहीं खड़े, कोड़े की सजा का तमाशा देख रहे थे। मैंने कहा—"ब्राह्मणो, तुम्हें अपने इस अनाचार पर लज्जित होना चाहिए। एक निरपराध अबला पर ऐसा क्रूर अत्याचार!"

"कुमार देव, यह राज्य का विधान है। इसमें हमारे अत्याचार का प्रश्न ही नहीं उठता।"

"विधान तो विप्रवर तुम्हीं ने बनाए हैं? और सभी सुविधाएँ अपने लिए रख ली हैं।"

"सुविधाएँ हमें कोई दान में नहीं मिलीं, हम वर्ग-वर्ण में सबसे श्रेष्ठ हैं। हम ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुए हैं।"—उनमें से एक ब्राह्मण ने गर्व से छाती फुलाकर कहा।

"तो क्या, तुम्हारी स्त्रियाँ अब गर्भवती नहीं होतीं? और क्या ब्राह्मण-वर्ग योनि से उत्पन्न नहीं होता?"—इतना कह, मैं रोषपूर्वक वहाँ से हट गया और अपने रथ में आ बैठा।

इसी प्रसंग में देवदत्त ने कहा—"वर्ण तो दो ही होने चाहिए। स्वामी और सेवक, यानी आर्य और दास।"

देवदत्त के इस कथन ने मेरे रोष को भड़का दिया—"यह स्वार्थ-प्रपंच है। मनुष्य सभी समान हैं। यह बात अलग है कि सामाजिक सुविधा के लिए हमारे पूर्व पुरुषों ने काम का बटवारा कर दिया। काम के छोटा-बड़ा होने से उसका कर्त्ता छोटा-बड़ा नहीं हो जाता।"

इस पर छन्दक बोला—

"किन्तु नाथ, मैं सारथी सदैव सारथी हूँ। मेरा बाप भी सारथी था और मैं भी सारथी रहूँगा। आप क्षत्रिय राज-वंश में उत्पन्न कुमार हैं, राज-पुत्र हैं और सदैव राज-पुत्र रहेंगे।"

"छन्दक ठीक कहता है, कुमार।"

"छन्दक ठीक नही कहता। इसकी नसों में भी वही खून है जो इसके बाप-दादों की शिराओं मे था, पीढियों की गुलामी से जिनमें कीड़े पड गए हैं। इस कारण, वह गुलाम-लहू विचार-दृष्टि में अवरोध ला रहा है और ऐसे वातावरण मे पला हुआ मनुष्य कुछ सोचने और कुछ न सोचने के लिए मजबूर हैं। उसी तरह देवदत्त के, हम क्षत्रियों के रक्त में भी दोष आ गया है, तभी न वह स्वामी और सेवक का विभेद करता है। भला, जिनके पास मस्तिष्क है, जिनके पास हृदय है और जिनकी प्रपुष्ट-प्रलम्ब भुजाओं में ओर-छोर सहित धरती को अपने मे समा लेने का सामर्थ्य है, उनकी दृष्टि में कौन शूद्र और कौन श्रेष्ठ !!...

"ईश्वर ने सब को समान बनाया है। सब को समान रूप से, समान ढंग से, समान तरीके से पदा किया है। सबको समान रूप से प्रकृति का अपना वैभव प्रदान किया है। यह नही कि राजकुमारी के लिए ही धूप और आभा बनी हो और शूद्र-कुमारी के लिए उसका अभाव हो। यह तो मनुष्य के मन की कुरूप कायरता और कृपणता है कि उसने प्रभु प्रदत्त उपादानों पर भी पहरा बिठा दिया है और मनुष्य-मनुष्य के बीच द्वैत की दीवार खड़ी कर दी है, ऊँच-नीच और अधिकार-अनधिकार की रेखा खीच दी है।"

"कुमार, यह समाज-विरचित विधान है और सर्वमान्य है।"

"लेकिन छन्ना, विधान बदले भी जाते हैं, बदले जा सकते हैं और बदले जाएँगे। आज ब्राह्मणो ने भले ही अपने और अपने गुट्ट के हेतु स्वार्थमय विधान बना लिए हैं परन्तु वह दिन भी आएगा जब विधान वे लोग बनाएँगे जिन्हे शूद्र और सेवक कहा जाता है। जिन्हे 'मनुष्य' कहते उच्च-जन्मा ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यों की जिह्वा लजाती है। किन्तु यह तथ्य नही भूला जा सकता कि सुकर्म ही मनुष्य को बड़ा बनाता है और कुकर्म ही उसे गिराता है। क्या गौओं के लिए सुरक्षित घास के गजहर में आग लगानेवाले निष्ठुर ब्राह्मण की अपेक्षा वह शूद्र श्रेष्ठ और सुकर्मा नही, जो उस आग को बुझाता है ? छन्दक सेवा सबसे बडा धर्म है और सेवक का सबसे बड़ा वर्ण और पद है।"

"कुमार का कथन यथार्थ है, धन्य हैं आप, जो इस भाँति सोचते है। किन्तु मेरी यही विनती है कि आप अधिक सोचा न करें। यह तो संसार है, इसकी गति यूँ ही चलती रहेगी। ईश्वर ने आपको अनन्त ऐश्वर्य दिया है, उसका उपभोग कीजिए और महाराज के मन को शान्ति दीजिए।"

"क्यों भाई छन्दक, अब हो चुका न तुम दोनों का दर्शन-विवेचन ?"—देवदत्त कृशा की ओर लुब्ध नेत्रों से देखता हुआ बोला। वह उतावली में था।

मैं समझ गया उद्यान के एकान्त निकुंजों की ओट वह चाहता है। वरना इस सदा के हिंसक तरुण के मन में शान्त उपवन के प्रति अचानक यह प्रेम कहाँ से उमड़ आया ?

छन्दक ने हमें, एक-एक कर उद्यान के समस्त लता-वल्लरी और द्रुम-पादपों का परिचय दिया—

"देव, यह अमरवल्लरी है, इसे अम्बरवल्लरी भी कहते हैं। देखिए राजकुमारी यशोधराजी, भारतीय नारी की तरह यह वल्लरी निरन्तर उत्थान की ओर अग्रसर है। अशोक के इस विशाल वृक्ष का प्रश्रय पाकर, यह अपना समस्त भार उसे सौंप चुकी है और इस अशोक की ओर देखो गौतमी, सुन्दरियों के पदाघात से जो खिलता है।"

"तुम भी क्या किसी के पदाघात से खिले हो, भद्र सारथि !"

छन्दक गौतमी की बात पर केवल मुस्कराया।

"और इस अंगारवल्ली को जरा देखो कुमार ! विद्रोहियों के तसमानन की तरह इसकी शिरा-शिरा लाल हुई जा रही है। हरित पल्लवों के मध्य इसके फल ऐसे प्रतीत होते हैं मानो नन्हें अंगार दहक रहे हैं।"

"क्या इसी से अंगारवल्ली कहते हैं इसे ?"—यशोधरा ने पूछा।

"ठीक कहती हैं कुमारि ! ऐसा ही एक वृक्ष भी होता है, वह देखिए, उधर छोटे सरोवर के पास जो अति अरुण फूलों वाला गाछ दीखता है न, उसका नाम है अंगारपुष्प।"....

बीच में ही गौतमी बोली—"तो छन्ना, तुम्हारी अंगारवल्ली का विवाह हमारे अंगारपुष्प के साथ कर दो न !"

"जरूर।"—उत्तर देवदत्त ने दिया—"दहेज में क्या रहेगा ?"

"कोई सद्पात्र हो तो मैं स्वयं चली आऊँगी।"

"पात्र को सद्-असद् बनाना तो हमारे हाथ है।"

"हूँ !" और वह यश की ओर देख कर मुस्कराई। अब छन्दक की बारी थी—"यह पारिजात है।"...

"पारिजात है !" देवदत्त उत्सुकतापूर्वक कहा।

"हाँ, और यह यूथिका है। अज्ञात यौवना की हँसी-सदृश इसके पुष्प देखो कुमार ! कितने निर्मल और निष्पाप लगते हैं।"

"तो अभी किसी मधुकर से इसका परिचय नहीं हुआ है ?"

"मधुकर क्या सभी, पाप के वितरक हैं ?" गौतमी ने पूछा।

"यह कौन जाने, पाप मुकुल में है अथवा मधुकर में ? लेकिन बंद कली के अंक में रात भर रह कर, जब भोर में भ्रमर बाहर आता है तो वह काफ़ी बदला हुआ लगता है।"

ऐसी बात सुन कर गौतमी जवाब न दे, यह तो आज तक न हुआ—"सम्भव है, कमल कली ने भ्रमर को अमृत-रस दिया हो, किन्तु भ्रमर के छलिया हृदय-पात्र में गिर कर वह कुछ और बन गया हो !"

"सम्भव है।"

"सम्भव नहीं, निश्चय ही यही बात है—विष के पात्र में गिरने वाली दूध की प्रत्येक बूंद यदि हलाहल में परिवर्तित हो जाती है तो, दोष उस बूद का तो नही, उस पात्र का यानी मधुप का है। कली तो अपने वृंत पर ही रही, किन्तु भ्रमर ने जाने कितने लोक-परलोक देखे ! जाने कितनी कलियों का रसपान किया ? और विस्मय तो इसमें है कि वह प्रति अवसंर नई कलिका का परिचय चाहता है।"

कृशा गौतमी की जीभ जब चलती तो, किसी के रोके न रुकती। और तर्क-वितर्क में उसे पा लेना सदा के तर्की देवदत्त के लिए भी कठिन था।

छन्दक बोला—"अंगारवल्ली के सजातीय इस इन्द्रायण को देखिए। इसके लाल-लाल फल जितने मनोहर हैं, उतने ही कड़ुए हैं। यह है कदम्ब, यशोदा-मैया के मोहन का प्रिय तरु।"

"जाने कितने रास रचाए होंगे मोहन भैया ने इसके नीचे !"

"सच है।" मैंने कहा।

"और यह रसाल का वृक्षराज कितना मनोज्ञ है—"देवदत्त ने अपनी उँगली से पेड़ दिखलाते हुए कहा। यशोधरा ने उसे टोक दिया—"कुमार, रसाल को उँगली न दिखाओ, उसकी बाढ़ रुक जाएगी।"

"यश का मन बड़ा कोमल है।—"गौतमी बोली—"द्रुम-लताओ और पशु-पंछियों के मरने-जीने की चिन्ता में भी दुबली हुई जाती है यह।"

"अब इधर आइए। ज़रा सावधानी से, इधर बाईं ओर पैर न दीजिए, माली ने कल ही नए पौधे उधर रोपे हैं..."

"और ये नए पौधे नई नवेलियो की तरह तनिक-सी आहट पाकर लजाते-शरमाते हैं और बाहर की बयार छूने ही कुम्हलाते हैं।"

"शिरीष और शेफाली का वह जोड़ा देखिए। शिरीष कितना मुक्त और उदारमना है। वह धर्मप्राण धनिक की तरह अपनी प्रसून-राशि दोनो हाथों से लुटाता है—ये जो शाखाएँ बाहर निकली हैं, शिरीष के दो हाथों जैसी ही तो हैं।

देवी यशोधरे, इस दुबली-पतली शेफाली को देखो न, जिसके फूल और जिसकी गंध तुम्हें सुहाती है। रात भर झरती है यह। आर्य सुहागन के समान समर्पण ही इसका इष्ट है। नम्र-निवेदिता यह चिर-विरहिन निशीयनी की बीतती बेला में चुप-चुप झरती रहती है। युगान्तर आए और गए। कल्प उदय होकर अस्त हो गए। अनेक ज्ञानी और संत धरती पर विचरे, लेकिन देवि, इसके आँसू किसी ने न पोंछे। मनुष्य के नेता ने यानी मनुष्य ने मनुष्य के दुःख को तो देखा, परन्तु कितने ऐसे हुए, जिन्होने पशु का, पक्षियों का और इन अबोध लता-द्रुमो का दुःख देखा-परखा हो? इनकी पीर पहिचानी हो?...यह गुलाब है, पाटल है, कवियों ने जिसकी उपमा कामिनी के कपोल से दी है। यह करवीर, काचनार, सिन्धुवार और यह करण्टक है। यह है लाल कनेर। यह, उद्यान की शोभा-समान जो द्रुमवर दीख रहा है, गांधार से यवनराज का भेजा गुलेअब्बास है....अनन्त रस की विधात्रि यह अंगूरलता है। इसी नाम राशि की यह दूसरी वल्लरी है अंगूर-शेफा, इसे हिमवान् के गहनवनों से लाया गया है...."

"बेचारी का मन यहाँ कैसे लगता होगा? इस अपरिचित प्रदेश में, उद्यान के सभी साथी जहाँ नए हैं। देखिए न, तभी तो यह ऐसी सकुचाई शरमाई है।" यशोधरा ने शेफा के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करते हुए कहा। उसकी बात सुनकर हम सब सहम गए, मानो शेफा को हिमगिरि के आँगन से यहाँ ले आने का सारा अपराध हमारा ही है!

"अब आप लोग, जल्दी-जल्दी आगे बढिए। वह जो छः हाथ लम्बा प्रहरी जहाँ पहरा दे रहा है, वहाँ सुनहरी क्यारी में अमृतमूरि-संजीवनी बन्द है।"

"बन्द क्यों? इसे खाकर कोई मरेगा तो नही। अमर ही होगा। लोक-जीवन की रक्षा और अभिवृद्धि ही तो राज्य का ध्येय है?"

"किन्तु यह मूरि केवल राजपरिवार के लिए रक्षित है। यदि साधारण-जन भी इसे पा लेंगे तो फिर राजा-प्रजा में क्या अन्तर रह जाएगा! राजा राजा है, प्रजा प्रजा है। उसका काम शासन करना और इसका काम शासित रहना है।"

"झूठ है, गलत है। प्रजा में यह मिथ्या प्रतारणा और भ्रांत धारणा किसने उत्पन्न की है? स्वार्थी-समाज-शास्त्रियो ने ही तो? राजा प्रजा एक है। दोनो एक ही इकाई के दो पहलू हैं। प्रजा से राजा उत्पन्न होता है। प्रजा में से उसका निर्वाचन होता है। इसलिए प्रजा जो कि निर्वाचक-निर्णायक है, बड़ी है। राजा अपने निर्वाचको द्वारा शासित है। इसलिए, विधान की दृष्टि से यद्यपि उसे सम्मान सूचक शब्द 'शासक' मिला है, तथापि वह सबका 'सेवक' है और जो सेवक है वह राजा कहलाने का दावा न करेगा।" मैने कहा।

"यह अर्जुन-वृक्ष है—सफेद कनेर। अविवाहिता माणविका (ब्राह्मण कन्या) की मुस्कानों-सी हैं इसकी कलियाँ और इधर इस ओर सभी प्रकार की गंधलताएँ हैं—धनिया, अजगंधा, यवानिका, अगरु, अजवायन, अरण्य और आर्द्रक हैं। नवमालिका और चम्पक की यह तरुराजि इन गंध लताओं का पहरा दे रही हैं। माँ के क्रोड़ में शिशु-सदृश रक्षित है ये लताएँ। सामने वह अश्वत्थ है। गोपीजनवल्लभ वासुदेव ने शैशव में इसी के पल्लवों पर शयन किया था। यह निकुंज-कुटीर है। वंस के अंकुरो से यह बनाया गया है। इस पर अशमंतक (एक छोटी घास) का आच्छादन है। इसी से तो कुंज-कुटीर में सदैव छाया, सदैव शीतलता और सदैव अँधेरा रहता है।"

देवदत्त ने गौतमी की ओर देखते हुए धीमे कहा—"चलोगी कृशा, कुटीर देखेंगे।"

गौतमी ने आमंत्रण अस्वीकार नहीं किया।

"यशोधरे, तुम्हे मल्लिका के गजरे बहुत पसन्द हैं न! यह रही, उसकी लता। अपने अलिंद में खड़ी, किसी आगतपतिका-सा है इसका परिवेश। इसकी शाखा-शाखा, टहनी-टहनी और डाल-डाल पर कलियों और फूलों का ज्वार आ रहा है, यह अपने पूरे यौवन पर है। सरोवर में खिले इन विविध कमलो की शोभा देखिए राजकुमारी! पद्म, सरोज, नीलोत्पल, पुण्डरीक, पकज, जलज आदि की छवि का अवलोकन करो। सरोवर की तटीय-भूमि पर आम्र और महाशाल की यह सघन वनराजि नगर की किसी सभा-सी प्रतीत होती है। नारिकेल का यह एकान्त पादप इस तरह शून्य में खोया है मानो कोई विजनवासी, अचेल निर्ग्रंथ समाधिस्थ हो। अश्वगंधा की क्यारियों के आस-पास अपराजिता की गंध इस प्रकार वायु में वितरित है, जैसे किसी पर्यंकवासिनी, प्रमत्ता के मुँह से उलझे-उलझे वोल निकल रहे हों और उसके साथ निकलती उसकी मुख-वास वायुमंडल में फैल-फैल जाती हो और उस पर भी, पास में खड़ी यह जपावल्लरी जैसे अपनी स्वामिनी को मद की रीती प्यालियाँ भर-भर कर दे रही है।"

मैंने पूछा—"यशोधरा कुमारी, तुम्हे राजोद्यान की कौन-सी द्रुमवल्लरी प्रिय है?"

"मुझे तो सभी इष्ट हैं।"

"फिर भी?"

"यों, मंदार, मल्लिका, यूथिका, कचनार और पुण्डरीक मैं यथा समय मँगवाती हूँ।"

"मुझे तो अश्वत्थ या न्यग्रोध अच्छा लगता है, उसकी छाया में मन को जैसे शान्ति मिलती है।"

"लेकिन उस पर तो फूल नहीं लगते?"

"फूलों से क्या? उसके सुकोमल पल्लव और शीतल छाया अन्यत्र कहाँ उपलब्ध हैं?"

"यदि आप, अकेले अश्वत्थ के प्रति इतना राग रखेंगे, तो क्या उपवन के शेषान्य पादप-वल्लरियों का मन न दुखेगा? यह विभेद कैसा?"—यशोधरा के अधरों पर स्वल्प स्मित आई।

"बात भेद की नहीं। पसन्द की है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी दृष्टि और अपनी पसन्द होती है। वैसे, मैं तो सभी पेड़-पौधों और लता-वल्लरियों में प्रवाहित प्राण-शक्ति को देखता हूँ। मैं मानता हूँ कि ये सभी गाछ उसी प्रकार जीव और जीवन-लीला से परिपूर्ण हैं, जिस प्रकार मनुष्य-जाति। किन्तु मनुष्य-जाति की अपेक्षा ये अधिक क्षमाशील और विनयवान हैं। हम इन्हें अपने स्वार्थ की पूर्ति के निमित्त, काटते-छाँटते, और तोड़ते मरोड़ते हैं। इन्हें अपने परिजनों से दूर ले जाकर अनजाने भूमिक्षेत्र में रोप देते हैं, किन्तु क्या कभी ये कोप करते देखे गए हैं?

"तुमने जूथिका के गुच्छों से अपनी घुँघराली अलकों का मधुर शृंगार तो कर लिया, किन्तु क्या कभी सोचा—जूथिका की इन कलियों के बिछुड़ जाने पर, इनकी मां, वह लचकी हुई वृद्धा शाख आँसू बहा रही होगी! दुनिया कहती है कि कमल के पत्ते और फूल जल में नहीं डूबते। उसके पल्लव-दल इसीलिए बाहर रहते हैं कि पुष्प-चयन करने वाले अपने नयन खोल कर देख लें कि पंखुरियों पर अश्रु-बिंदु चमक रहे हैं। तुम चाहे उन्हें ओस, नीहार या शबनम कह कर बिसरा दो, लेकिन किसी को बिसरा देने से उनका अनस्तित्व तो प्रमाणित नहीं होता! लोक जब अपने ही हित-साधन में रत रहता है तो वह अपने मन को भ्रम के मायाजाल में लुभाए रहता है। यों, नास्तिक बन जाता है!"

"अब लौट चलें कुमार!—छन्दक ने कहा—"कृशा और देव भी सैर से लौट रहे हैं।"

हमने देखा, दोनों अदूर ही आ गए हैं। देवदत्त बुझे हुए दीप-सा मुरझाया हुआ है और कृशा गौतमी वृन्त-च्युता मुकुल की भाँति त्रस्त-व्यस्त है। अवश्य, दोनों जी भर कर लड़े-झगड़े हैं। लेकिन, कृशा की वेणियाँ खुली हैं और उसकी प्रलम्ब केशराशि उसके स्वरूप की तरह बिखरी-बिखरी है।

वे और समीप आ गए। यशोधरा ने आँखें मिलने पर छूना मुस्कराई—परन्तु, हम सब ने देखा, उसकी मुस्कान बहुत धुँधली और फीकी-सीली थी।

★

[८]

माँ ने मेरा मुँह देखा था और मैंने माँ का मुँह देखा था—माँ के विषय में बस मुझे इतना ही याद है। वह तो मुझे सात दिन का छोड कर चल बसी थी। कितना अभागा हूँ मै कि माँ को सुख न दे सका उसके स्नेह का वरदान न पा सका। किन्तु, एक ही सप्ताह पय-पान कराकर, वह मुझे जीवन का अमृत दे गई और बदले में मेरे जन्म ने उसे क्या दिया—मृत्यु !

फिर प्रजापति गौतमी देवी ने मेरा लालन-पालन किया। और लोग कहते है कि वे मेरी सौतेली माँ हैं परन्तु मैने उन्हे सदैव अपनी माँ से बढ़ कर पाया। सौतेली माँ भी ऐसी हो सकती है, मुझे आज तक विस्मय है ! ज्यों-ज्यों उनका प्यार मिलता गया, त्यो-त्यों मेरा अचरज बढ़ता गया !

मेरे जन्म की कथा वे अच्छी तरह जानती हैं। उन्ही से मैंने समस्त वृत्त सुना था।

एक साँझ, जब ग्रीष्मकालीन ऊष्मा कपिलवस्तु के राजमहलों पर मँडरा रही थी और मेघ-भरे साँवरे-अनियारे बादल धरती से दूर बहुत दूर थे, मुझे व्यजन झलती हुई वे बोली —

"कुमार, ग्रीष्म के उपरान्त, कुछ ऐसे ही दिन थे। नवमी का शशि, अपनी वंकिम झाँकी नभोमण्डल मे एकत्र तारिकाओं को दिखला रहा था। गोकुल मे रास के लिए एकत्र गोपिकाओं-सी नक्षत्र-कन्याएँ अम्बर के आँगन में उपस्थित थी। नगर में समारोह मनाया जा रहा था। हम सब खान-पान और राग-रंग में विह्वल थे। आपान-गृह में 'मुझे दो, मुझे पहले' का कोलाहल था। सुरा और स्वर का अरोक प्रवाह बह रहा था, किन्तु महामाया जाने क्यों विरत प्रकृति लिए मौन थी। वे समस्त लास-उल्लास से दूर अपने कक्ष में लेटी रही। लेकिन जब आषाढ़ी पूनम का चाँद मधुमक्खी के छत्ते की तरह आकाश की डाल पर झूल आया तो वे जाने कैसे अमित उत्साह से भर उठीं। गंधित जल से उन्होंने स्नान किया। उसके पश्चात् दासियों ने उनका शृंगार किया। उस वेला वे

हिमगिरि के प्रांगण से भूलोक में उतरती देव-गंगा-सी लग रही थीं। परिधान-सज्जा के उपरान्त जब वे बाहर आईं तो उन्होंने चार लक्ष सुवर्ण मुद्राओं का दान दिया। उनके इस दान से लोकजन तुष्ट हो, आशीष देते हुए, अपने अपने घर लौट गए।

आज महाराज भी स्वाभाविक हर्षातिरेक में थे। हम सब ने शैवालिका के निरीक्षण में बनाए गए विविध व्यंजन ग्रहण किए और जनपद कल्याणी अम्बिका का नृत्य देखा और चाँद जब गिरे हुए सुरा-पात्र-सा ढल गया, तो हम अपने-अपने शयन कक्ष में लौट गए। मुझे याद है उस दिन मायादेवी ने आठ अनु-व्रत लिए थे।

दूसरी भोर जब हम प्रातःकालीन जलपान के लिए राजभवन में एकत्र हुए तो देखा मायादेवी की पलकें कुछ भारी थीं। पूछने पर ज्ञात हुआ कि उन्होंने रात एक सपना यों, देखा है—

'मुझे ऐसा लगा कि चार देव-दूत आए हैं। वे अपने पंख समेट कर मेरे पर्यंक के चारों कोने खड़े हो गए और उन्होंने मुझे पर्यंक सहित उठा लिया। क्या देखती हूँ कि मेरा पर्यंक हिमाचल के एक रमणीय स्थल पर रखा हुआ है। उस स्थल का नाम मनोशिला है। मेरे सिरहाने एक विशाल शाल वृक्ष खड़ा था, उससे परे देव-दूत एक ओर खड़े हो गए और तब उनकी पत्नी देवियाँ आईं और वे मुझे अनवतप्त (मान) सरोवर पर ले गईं। मुझे उन्होंने स्नान कराया और अमरों के विचित्र वेश पहनाए और स्वर्गीय सुमनों से शृंगार किया। अदूर ही एक रजत पहाड़ी थी। चाँदनी में उसकी चाँदी दुगुनी शोभा दिखा रही थी। उन झिलमिलाती उपत्यका की चोटी पर सोने का एक सुरम्य प्रासाद था। उसके एकान्त कक्ष में सुहावनी सेज बिछी हुई मैंने देखी। तूलिक पूरब दिशा की ओर था। मुझे उसी पर लिटाया गया। धीमे-धीमे मैं निद्रा लोक में चरण करने लगी। क्या देखती हूँ कि एक अति विशाल श्वेत गजराज आया है उत्तर के द्वार से। उसने अपनी रुपहली सूँड से पुण्डरीक का एक सुनिर्मल सफेद सुमन तोड़ा और अति उल्लासपूर्वक उद्घोष किया। मैं कुछ सहमी, मैं कुछ प्रमुदित हुई। उसने आकर मेरे पर्यंक के चारों ओर तीन बार परिक्रमा की, मुझे नमन किया और अपनी दाहिनी बाजू शय्या की ओर रखे, समीप आ गया। तब मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो वह सुगौर गजराज मेरी कोख में प्रविष्ट हो रहा है। आगे मुझे सुध न रही और जैसे निद्रा में ही मैंने परिचारिका को पुकारा। देखती हूँ, भोर हो गई है और गेहूँ की पकी हुई बाली-सा सुनहरा सूरज सफ़ेद अम्बर में ऊँचा चढ़ आया है।'

कुमार ! राजमहिषी का यह स्वर्गीय स्वप्न सुनकर हम सब विस्मय में पड़ गए परन्तु सहसा मेरी बाईं आँख फड़कने लगी। शुभ शकुन होने लगे। रह-रह कर कोकिला की टेर सुनाई पड़ी। मलय-मरुत् मंद-मंद गति से चला। मैंने जलपान से बीच में ही उठने के लिए उपस्थितों से क्षमा माँगी और महाराज को एकान्त में ले जाकर अपना शुभ सन्देह सुनाया।

महामन्त्री को बुलवा कर हमने विचार विमर्श किया। उन्होने तत्काल वेग-वान चर भेजकर शाक्य कुल के राजपुरोहितों और चौंसठ तपस्वी महाब्राह्मणो को निमंत्रित किया।

अन्तःपुर में हम सब स्त्रियाँ ब्राह्मणों की अगवानी के लिए विविध तैयारियों में जुट गईं। दास-दासियों और सेवक समुदाय के इधर-उधर आने-जाने से काफी शोरगुल हो रहा था। चौंसठ ब्राह्मणों का एक साथ आना साधारण बात न थी। समस्त कपिलवस्तु आनन्द की तरंग पर रमने लगा। तभी मैं चौंकी, सब साथी और अनुचर, परिजन चौंके ! एक अनन्त आलोक से लोक आलोकित हो उठा। कोटि-कोटि सूर्यो का प्रकाश भी जिसके सम्मुख जुगनू के प्रकाशवत् प्रतीत हो, ऐसा विराट प्रकाश भुवन भर में भर गया। दस सहस्र लोक धातु—ब्रह्माण्ड काँपने लगे। धरती रह-रह कर हिलने लगी। मैं एक परिचारिका के सग बाहर अलिंद में आ गई, तो देखती हूँ कि आकाश से दो जल-धाराएँ छूट कर धरती की ओर बढ़ी आ रही हैं। मायादेवी भी बाहर थी वे अपने उपवन के सुमनों का चयन कर रही थीं जब तक छाया में आएँ-आएँ तब तक वे पूरी तरह भीग गईं। मानो उनका उदककृत्य, प्रक्षालन हो गया। कहने लगी गगन-गंगा-सी ये धाराएँ दो प्रकार की थीं एक शीत और दूसरी उष्ण जल की।

तभी वासन्ती ने आकर कहा—"देवि, परमभागवत ब्राह्मण सिंहद्वार तक पधार गए हैं।"

अभिपद्-गृह मे मैं और मायादेवी महाराज के पीछे-पीछे आईं। वहाँ हमने इस बात की स्वयं जाँच की कि विप्रवरों के लिए सभी प्रबन्ध यथोचित तो है न। नीचे सद्यस्नाता भूमि पर पल्लव बिछाए गए थे और उन पर चौंसठ चौकियाँ लगी थीं। आगे बढ़ कर हमने ब्रह्म-समुदाय को नमन-वन्दन किया। गंगोदक से पाद-प्रक्षालन किया और आसन ग्रहण करने का निवेदन महाराज ने किया, तब स्वर्ण रजत थालियो में खीर आदि व्यंजन परसे गए। अनेक प्रकार की दान-दक्षिणा-द्वारा महाराज ने ब्राह्मणो को परितृप्त किया और तब उनके पैर दबा कर कष्ट के लिए क्षमा मांगते हुए बोले—'परब्रह्म, धन्य हैं मेरे भाग्य, आज आपके पुनः दर्शन हुए। एक लघु निवेदन है। उस पर आपका विचार हम सब जानना चाहते हैं।'

ब्राह्मणगण से अनुज्ञा प्राप्त कर महाराज ने मायादेवी का सारा सपना कह सुनाया। सुन कर ब्रह्मराज विचार पूर्वक अपनी अभिज्ञा से कहने लगे—'राजन्, चिन्ता न कीजिए! महारानी मायादेवी गर्भवती हुई हैं। शुभ मुहूर्त्त पर वे एक अति तेजस्वी पुत्र रत्न को जन्म देंगी। एक ऐसा पुत्र—जो यदि गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होगा तो, आसिन्धु-वसुन्धरा का चक्रवर्ती सम्राट होगा और यदि वह इस असार संसार से विमुख होकर विरागी हुआ, तो मुक्ति उसके चरणों में शरण लेगी— वह सम्यक् सम्बुद्ध होगा। विश्व के समस्त ताप-शाप का शमन करेगा और युगान्तरों तक धरित्री उसके पुण्य प्रताप से चमत्कृत हो शान्ति प्राप्त करती रहेगी, राजन्, वह पुण्य का प्रचण्ड-पवन प्रवाहित करेगा और पाप की मेघमाला तथा अज्ञान के अमोघ अंधकार को नष्ट करेगा।'

महाराज ने अपनी शंका का निवारण किया—'विप्रवर! भावी शिशु की महत्ता के प्रमाण में अपने दिव्य चक्षुओं से आप कोई लक्षण भी देख रहे हैं? मेरी धृष्टता क्षमा करें योगीश्वर!'

बोले वे सन्यस्त—'हम ही नही देख रहे हैं। सारी धरती और उसके प्राणी देख रहे हैं। जरा मेरे पीछे प्रासाद के वातायन में आकर देखो।' हम अनुगामी बने। वातायन में आकर देखा, विस्मित रहे। फिर से विप्रवाणी गूँजी—

'देख रहे हो राजन्, राजकुल परिजन! बत्तीस मंगल शकुन अपनी आँखों अच्छी तरह देख लो—समस्त जम्बूद्वीप और वसुन्धरा में अनन्त ज्योति प्रकाशित हो रही है। नेत्रहीन अंधे भी देखने लगे हैं, मानो उनके मन में भावी बुद्ध के दर्शन की अभिलाषा जगी है, और उसके कामना-वेग से उनके लोचन खुल गए हैं। देखो राजन्, वधिर जन सुनने लगे हैं, मानो करविक पंछी-सा उसका कलरव सुनने को ये आकुल हैं। गूँगे बोलने लगे हैं। कुबड़े आनन्दोल्लास के अतिरेक से तन कर सीधे खड़े हो गए हैं। और विस्मय है पंगु-जन गहन गिरिवनो पर चढ़ने लगे हैं। धरती के समस्त बंदियों की शृङ्खला - कड़ियाँ रज्जुवत टूट गई हैं। तुम तो नही देख सकते शाक्य परिजन, परन्तु मैं देख रहा हूँ नरक की समस्त ज्वालाएँ बुझ गई हैं और नारकीय प्रहरी भयभीत हैं। महाराज, पाप अपने पलायन में शरण स्थल खोज रहा है। क्षुधा और तृषा का शमन हो रहा है। बनैले पशुओं का पशुत्व ढल रहा है। देखो-देखो! शाक्यधन, तुम्हारी प्रजा के रोग-शोक गल रहे हैं। सभी मनुष्यों के मन में करुणा की किरण कोर जगी है। तुम्हारे आलयों में गजराज चिंघाड़ रहे हैं और घोड़े अपने खुरों से भूमि को खोदते हुए हिनहिना रहे हैं। इनकी भाषा तुम नही समझते। वे भावी मंगल के शुभागमन पर अपना उल्लास प्रकट कर रहे हैं।'

तभी दो परिचारिकाएँ दौड़ती हुई आई और हाँफती हुई बोली—'क्षमा हो देव, राजकीय वाद्य-यंत्रालय सूना है, परन्तु वहाँ रखे समस्त वाद्य स्वतः मधुर सुरों में बज उठे हैं। ढोल और मृदंग अपना गम्भीर घोष प्रकट कर रहे हैं और तंत्रियों के तार-तार से स्वर्गिक झंकार उठ रही है। विराम लेती हुई राज-नर्तकियो के मुखर पायलो ने अचानक बज कर, उन्हे जगा दिया है। वे कहती हैं, हमारे पदो में नृत्य की गतियाँ भर गई हैं, नाच लेने को मन अकुला रहा है।'

'देखते हो राजन्! इन महिषियों और सेविकाओं के आभूषण स्वयं मुखर हो उठे हैं। कंकण का रन्-रन्, किंकिणियो की रिन्-रिन् और नूपुरों की रुन-झुन्, यह भावी चक्रवर्ती के जन्म की द्योतक है। मैं देख रहा हूँ, स्वर्ग और धरा मे ऋतुराज पधारे हैं, सुगंधित मलय वह रहे हैं और आज अचानक देखो मेघपरियाँ अवनी के आँगन में उतर आई हैं। भूमि की गहन परतो के नीचे बहता हुआ जल मिट्टी की सारी सघनता को छेद कर, धनुष से छूटे बाण की तरह बाहर निकल आया है। कितने-कितने स्रोत वह रहे हैं! पंछियों ने उड़ना बंद कर दिया है। और नदियों का प्रवाह रुक गया है। तुम्हें कैसे प्रतीति हो महाराज, सागरो ने अपने जल का स्वाद बदल दिया है। उन्होने अपना सारा खारापन छोड़ कर मधुरता अंगीकार की है। यह अन्तहीन धरती पंचरंगी पद्म प्रसूनों से महक उठी है। जल-थल की सभी कलियाँ खिल गई हैं। वृक्षों के धड़ पर उगने वाले कमल और शाखा कमल प्रस्फुटित हो गए हैं। अंगूर कमल की वल्लरियाँ पुष्पों से, मूल से शिखा तक, भर गई हैं। कठोर चट्टानों को भेद कर गहन पातालो से सुगंधित कमल बाहर आ गए हैं। वह देखो, सामने की पथरीली उपत्यका के ऊपर सात-सात के गुच्छो में वे लहरा रहे हैं। गगन-मण्डल से भी कमल-कुसुमो के वृन्त वायु में झूल रहे हैं। दिशा-दिशा में पुष्पों की वर्षा हो रही है। मैं सुन रहा हूँ स्वर्गीय संगीत, और दस सहस्र लोक सुमन-वर्षा से परिपूरित और सज्जित ऐसे प्रतीत होते हैं मानो दिव्य और भव्य प्रसूनों का अति उच्च गिरिवर हो। फूल...फूल....फूल.... गंध-परागमय फूल, ये केसर कुसुम, ये कमल कुसुम!'

"और कुमार ब्राह्मणों के वचन कई दिनों तक हमारे श्रवणों में गूँजते रहे।"

इतना ही बोली उस दिन महामाता प्रजापति देवी।

कथा है कि जब मैं बोधिसत्व, माँ की कोख में आया तो चार देवपुत्र चारों दिशाओं के प्रतिनिधि रूप में, माँ की रक्षा के लिए आए। वे रात-दिवस पहरा देते कि कोई मनुष्य या अमनुष्य माता को पीर न दे। लक्षण है कि जब बोधि-सत्व कोख में रहते हैं तब माता प्रकृति-रूपेण शीलवती होती है। हिंसा उसे छूती नही। दुराचार उसकी ओर देखते नही। मिथ्या भाषण से वह मुक्त रहती

है। मादक पदार्थों का सेवन उसे सुहाता नहीं। परम शीलवती होती है वह कि परपुरुष की ओर उसका अन्तर आकर्षित नहीं होता और वासना के स्वप्न उस के चित्त को भ्रमित नहीं कर सकते। परन्तु वह पाँच पुण्य भोगों से समर्पित और सेवित रहती है। उसे कोई रोग-शोक उत्पन्न नहीं होता। वह पूर्ण स्वस्थ रहती है और चाहने पर बोधिसत्व को यानी भावी बुद्ध को—सभी अंग-प्रत्यंग (अहीनेन्द्रिय) सहित देख सकती है, जैसे उत्तम जाति की, अष्ट-कोण वाली शुद्ध, अमल और सर्वाकार सम्पन्न वैदूर्यमणि हो और किसी कुशल कारीगर के हाथों उसमें उजला, नीला, पीला, अरुण या श्याम सूत्र डाला जाए और उसे कोई पारखी अपने हाथ में लेकर देखे, कहे, यह वैदूर्यमणि है, इसमें अमुक रंग का सूत्र है—यों, देखती है भावी बुद्ध की माता अपने पुत्र को। लक्षण है कि बोधिसत्व के जन्मोपरान्त माता मर कर तुषित देवलोक में उत्पन्न होती है।

और जैसे अन्य स्त्रियाँ बैठी या सोई रहकर प्रसव करती हैं, वैसे बोधिसत्व की माता नहीं करती। वह पूरे दस महीने बोधिसत्व को कोख में रखती है और समय पर खड़ी-खड़ी प्रसव करती है। कोख से बाहर आने पर, भावी बुद्ध को पहले देवता झेलते हैं, पीछे मनुष्य अपने हाथ में लेते हैं। और यह तो सब जानते हैं कि बोधिसत्व कोख से निकल कर पृथ्वी पर गिरने नहीं पाते, चार देव-पुत्र उन्हें झेल लेते हैं और जनेता के सम्मुख रख कर निवेदन करते हैं—'प्रसन्नता आपकी सौगुनी हो धन्यभागे! बड़े ही भाग्यवान् पुत्र का प्रादुर्भाव हुआ है।' जब बोधिसत्व जननी की कोख से बाहर आते हैं तब सर्वथा शुद्ध होते हैं। किसी प्रकार के जलीय, द्रव या तरल पदार्थ से लिप्त नहीं होते, अलिप्त रहते हैं। जल से अलिप्त, कफ से अलिप्त, रुधिर से अलिप्त और सभी अशुचियों से अलिप्त रहते हैं वे। कहते हैं, जैसे काशी के सुन्दर वस्त्र में कोई मणि-रत्न लपेटा हुआ हो, तो, न तो वह मणि-रत्न वस्त्र में चिपट जाता है, और न वस्त्र ही उस मणि-रत्न में चिपट जाता है, इसी प्रकार बोधिसत्व माता की कोख में रहते हैं और निकल कर भी अलिप्त रहते हैं। ऐसा क्यों? कारण शुद्धि है।

मैंने यह भी सुना है—'जब बोधिसत्व जन्म लेते हैं तो, माँ की कोख से उत्पन्न होते ही संसारिक मनुष्यों की तरह नहीं रहते। वे तो तुरन्त पैरों पर खड़े हो जाते हैं और उत्तर दिशा की ओर मुँह करके सात कदम चलते हैं। अन्तहीन श्वेत-अवदात छत्रछाया के नीचे, सभी दिशाओं का दर्शन करते हैं और इस पवित्र वचन की घोषणा करते हैं—

"इस लोक में मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ। इस लोक में मैं सर्वाग्र हूँ। इस लोक में मैं सर्वज्येष्ठ हूँ। और यह मेरा अन्तिम जन्म है। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा!"



[६]

ग्रीष्म की देवी के पुनरागमन की वेला थी। सघन अमराइयों में, कोयल विगत दिवसों की याद में कुहुक-कुहुक उठती थी और ज्यों-ज्यों पिछले स्वप्न मुखर हो उठते थे, त्यों-त्यों उस के कंठ का पंचम अधिक बेचैन और सुरीला बनता जाता था। प्रजापति देवी उस दिन कहने लगी—

"कुमार, कपिलवस्तु के आस-पास वनों-उपवनों में वृक्ष-वृन्दों पर मानो अभिनव वसन्त लहरा रहा था। मेरी खिड़की के नीचे, मंदार वल्लरी नये फूलों से दुल्हन की तरह सजी थी। नीम के पेड़ पर नव पल्लव फूट रहे थे, जिस प्रकार अश्विन के मेघ-रहित अम्बर में तारक अंकुर फूटते हैं! बरगद अपनी विशालता की सीमा को भूल कर छाया का सर्वस्व समेट लेना चाहता था। पीपल, पलाश और पाकर के पेड़ो ने पुराने पत्ते छोड़ दिए थे, जैसे ज्ञान उदय होने पर, मनुष्य पुराने संस्कार और संताप छोड़ देता है, उसका मन मुक्ति की प्रत्याशा में खिल उठता है और वह अपनी एकाग्र तन्मयता में वाह्य को भूल कर, अन्तरस्थ हो जाता है। विल्व फलकर पक्वावस्था को प्राप्त हो रहा था, जैसे विद्या के फलने पर साधक ज्ञान की परिपक्वता पाता है।......

गहरी गोलाई, सफेद तना, घने-घने हरे पत्ते और उनके समूह में झाँकती सफेद-सफेद शाखाएँ—जैसे हरित साड़ी मे किसी गोरी का गौर वदन झिलमिला रहा हो, ऐसा था वह जामुन का पेड़! फल उसके पकने लगे थे, पर अभी गहरा श्यामल रंग न चढ़ा था, हाँ, गहरे लाल जरूर हो चले थे वे, जैसे सुहाग की प्रथम मिलन रात्रि में नवपरिणीता का रोम-रोम खिलता है और अंग-अंग रस से भर कर, लाज से भीग कर, लज्जारुण हो जाता है।

इन दिनों तुम मायादेवी के गर्भ में थे और वह अपने भावी सुत को गर्भ में इस प्रकार धारण किए हुए थी, जिस प्रकार किसी पात्र में तेल रहता है। दस-महीने पूरे होने आए थे। कुछ दिवस पश्चात् उन्हे अपने मायके की याद आई और वे नैहर लौटने के लिए व्यग्र हो उठी। महाराज से बोली—"स्वामि, मैं देवदह जाना चाहती हूँ।"

"अवश्य जाओ रानी—महाराज ने उत्तर दिया—"अपने शरीर का ध्यान रखना। तुम सदैव ही अपने स्वास्थ्य के विषय में अचिन्त रही हो, तुम्हारी अनुपस्थिति में मेरी फिक्र बढ़ती जाएगी। ईश्वर तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करे।"

इस वार्तालाप के कुछ दिन पश्चात् अन्तःपुर की स्त्रियाँ नगर बाहर तक पटरानी को पहुँचाने गई थी। महाराज ने देवदह तक सारा मार्ग नए सिरे से बनवा दिया था। और उसके दोनों ओर छबीले छायादार वृक्ष लगवा दिए थे। ऐसे वृक्ष जो साधुजनों की क्षमा और करुणा के समान सदैव, प्रतिकाल छाया देते रहे। ठौर-ठौर पर धातु और मिट्टी के कलशों में कदली-गाछ लगाए गए थे और स्थान-स्थान पर तोरण तथा ध्वज-पताका फहरा रहे थे।

जब नगरोद्यान के निकट मैंने महारानी मायादेवी के संग विदा ली, तब पूर्व दिशा में ऊषा अपने रतनारे नेत्र खोल रही थी। उनकी कंचन पालकी के पीछे राजपरिवार के एक सहस्र अंग-रक्षक योद्धा थे। उनके भी पीछे पदाति सेना के पांच सहस्र सशस्त्र सैनिक थे।

कपिलवस्तु और देवदह के मध्य एक अति रमणीय और मनोहारी उपवन है। लुम्बिनी उसका सुनाम है। दोनों नगरो के मध्य स्थित होने के कारण दोनों के नागरिक उस पर समान अधिकार रखते हैं। इस उद्यान की शोभा का वर्णन मेरी शक्ति से बाहर है। उसका दिग्दर्शन तो तुम्हें अपना कवि मित्र जनश्रुत ही करा सकता है। यहाँ विशाल-शालवन है। उस वेला लुम्बिनी का कोना-कोना फूलों से लदा पड़ा था। धरती से लेकर तरुराजों के शिखरों तक पुष्पों की लड़ियां झूल रही थी। दल के दल मधुकर उन पर मँडरा रहे थे और समस्त उपवन-क्षेत्र पक्षियों के सरस स्वरो से गूँज रहा था। मंजरियाँ महक रही थी। विहग कन्याएँ चहक रही थीं।

इस सुरम्य स्थली की छवि से रानी विमोहित हो चली और मुझसे बोली—'प्रजा, मैं कुछ देर यहाँ विराम लूँगी।' मैंने उत्तर दिया—'जीजी जैसी तुम्हारी इच्छा, मैं अभी पालकी रुकवाती हूँ और संघ के अधिनायकों को आदेश-सवाद भेजती हूँ।' मैंने पालकी के रुपहले, सुनहले और लाल रेशमी पर्दे हटा कर परिचारिका मंदाली को पुकारा। वह बैठी दूसरी पालकी में ऊँघ रही थी या जाने दिवास्वप्न देख रही थी.. इतना कह प्रजापति देवी सांस लेने को रुकी। अब तो, उनकी आयु भी काफी हो गई थी और स्वास्थ्य ने भी साथ छोड़ दिया था।

दो एक गहरे श्वास लेकर वे बोली—कुमार, मंदाली को ऊँघती देख, मैंने

दूसरी दासी को बुलाया। किन्तु तुम शैवाली से यह सब न कह देना, वरना वह मेरे सिर हो जाएगी। जितनी ही वह अकपट है, उतनी ही वह टेढी भी है।

लुम्बिनी के इस शालवन में विराम लेती माया दीदी ने एक महाशाल तरुवर की सुकोमल टहनी थाम ली और वह शाख भी इस प्रकार झुक आई जैसे उसे पहले से ही किसी ने पढा रखा है। डाली का छूना था कि उन्हे दोहर की पीड़ा होने लगी। हम जान गई कि कपिलवस्तु के सौभाग्य का प्रादुर्भाव होनेवाला है।

दासियो में दौड़ मच गई। परिचारिकाओं ने आवरण की ओट की। आकाश से अजस्र पुष्प-वर्षा होने लगी और आकाशवाणी हुई......क्या हुई। सो तो, मुझे स्मरण न रहा।

मैं जानता हूँ, प्रजामाता आकाशवाणी का कथन जानबूझ कर टाल गईं, क्योकि वह मेरे भावी से सम्बन्धित था। उस भावी से जो राजपरिवार के लिए अवांछित था।

फिर कहने लगीं--'कुमार बड़ी देर हुई, अब तुम कुछ खा-पी लो।'

मैंने मना कर दिया। वे मेरी कथाप्रियता जानती थी सो उन्होंने अधिक आग्रह न किया और यो प्रसंग-भंग भी न हुआ--

तब नन्हें मुन्ने तुम मेरे हाथों में आए! ओह कितने कोमल, कितने भोले, कितने प्यारे। मैं तो बार-बार अपने बेटे का मुह चूमती रही और मानो दुनिया को भूल गई।......बेचारी माया कुछ थक गई थी। उसका चेहरा फीका पड़ गया था और होठ कुछ सफेद होकर सूख चले थे। लेकिन, जब उन्होने करवट बदली और पहली बार तुम्हारा मुख देखा तो, पल भर में वदन की विगता अरुणिमा लौट आई और अधर भी उतने ही अरुण हो गए जितने कि हमारे व्याह के दिन थे!

वेग में विद्यु को लजानेवाले अश्वों पर सवार होकर संवाद-वाहक कपिलवस्तु की ओर दौडे। आन की आन में महाराज के कान पर कपिलवस्तु के युवराज-जन्म की वार्ता पहुँची। परम भट्टारक राजसभा में बैठे थे, उसी वेश-भेप में दौड़े आए। राजधानी के उछाह का पारावार अपार था।

और मैं तो भूल गई कुमार! जानते हो, जन्म-उपरान्त तुम सात पग चले थे, और जितने नटखट अभी हो उतने ही तब भी थे। उसी दिन तुमने पुकार कर कहा था, मानो विश्व-विजय की घोपणा कर रहे हो--'मैं समस्त ससार में प्रमुख हूँ। मैं मुक्त हो, मुक्त करूँगा।' लोगो ने कहा, ऐसे शब्द तो महौपध

और वेस्सन्तर ही पहले बोले हैं। और उस दिन चौंसठ ब्राह्मणों ने जो प्रकृत लक्षण प्रत्यक्ष दिखलाए थे, आज पुन. उसकी पुनरावृत्ति हुई।"

इस संवाद को सुने आज कितने युग बीत गए, पर मुझे तो अक्षरशः याद है। बेचारी प्रजामैया! कितनी निरीह, निरामय और स्नेहशीला थी वे!....अपनी कथा की समाप्ति के पूर्व दो-एक बातें ये भी उन्होंने बतलाई थीं—'सिद्धार्थ, तुम अपनी माँ के जैसे हो। वैसा ही रूप-रंग, आकार-प्रकार। तुम राजा बेटा बनना, और बड़े होकर जब सिंहासन पर बैठो तो सबका समान रूप से पालन करना।'

शैवालिका ने इसके बाद की बातें मुझे बताई थी—'कुमार जिस दिन तुम्हारा जन्म हुआ था ठीक उसी दिन यशोधरा कुमारी भी जन्मी थी। छन्दक और कालउदायी का जन्म भी उसी मुहूर्त में हुआ था। अश्वराज कन्थक, जो तुम्हारा सबसे प्रिय अश्व है, उसी वेला प्रकट हुआ था। और बोधि महावृक्ष तथा महाकोष भी उसी शुभ दिन प्रकाशित हुए थे।'

कहते हैं, कपिलवस्तु और मेरे ननिहाल देवदह के निवासी दोनों मिलकर, मुझे और अम्मा को आनन्द-उत्साह के साथ लुम्बिनी से राजधानी के प्रासादों में ले गए थे। परन्तु माँ का जी तो उसी दिन से खराब रहने लगा, स्वास्थ्य उनका गिरने लगा।

आज मैं सोचता हूँ, मेरे जन्म लेने ने मेरी जनेता को क्या मिला? मन में आज भी एक अवसाद है कि मैंने जीवन में सब कुछ किया, परन्तु एक माँ की सेवा न कर पाया।

*

[१०]

तेजोदीप्त वदन। लम्बे श्वेत केश। घुटनों तक प्रलम्ब बाहु। एक हाथ में कमण्डल। पैरों में खड़ाऊँ। ललाट पर प्रचण्ड तिलक। रोम-रोम सफ़ेद हो चला है। आयु का हिसाब न तो इसके पास है और न देवों को ही ज्ञात है। भूत, भविष्य, वर्तमान, पृथ्वी, पाताल और अंतरिक्ष में से ऐसा कोई काल और लोक नहीं जहाँ इस तपस्वी की गति न हो। विश्व के वृन्त पर शताब्दियों के सुमन झर कर गिर गए, किन्तु काल का कोई झंझानिल इसको उड़ा न सका।

मृत्यु इससे भयभीत थी। काल इसका क्रोध देख, काँपता था। जीवन इसकी शरण में सुरक्षित था। जिस प्रकार सहस्राब्दियाँ बीत जाने पर, वटराज के विशालकाय पर नवीन जड़-मूल झूलते हैं। उसी प्रकार इस सिद्ध पुरुष के सिर पर मटमैली जटाएँ झूम रही थी।

इसका नाम है कालदेवल। मनुष्य और देवता दोनों इसके साथी हैं। मनुष्यों का राजा शुद्धोधन और देवो का राजा शक्र दोनों इसके मित्र हैं।

देवों की नगरी। महर्षि का भोजन हो चुका था। दोपहर की झपकी जब लेने लगे तो, नूपुरो और मृदंग की ध्वनियो ने कालदेवल के विश्राम में विघ्न पहुँचाया। ऋषि उठ खड़े हुए और एक देव से पूछा—'क्यों रे, यह शोर कैसा हो रहा है?'

'नही जानते महाराज, मृत्युलोक में, नरो के राजा शुद्धोधन की रानी माया देवी ने एक पुत्र प्रसव किया है।'

'तो इसमें हँसने-चिल्लाने और गाने-बजाने की क्या बात है? प्रतिदिन पृथ्वी पर ऐसे प्राणी पैदा होते हैं।'

'नही महाराज? यह बालक असाधारण है। भविष्य में वह बोधिवृक्ष की छाया में बुद्धत्त्व प्राप्त करेगा और संसार के समस्त प्राणियों को सत्य, अहिंसा, क्षमा, शांति, मैत्री और करुणा का सन्देश देगा। वह प्रथम बार मनुष्य के स्वभाव

को बदल कर हिंसा से अहिंसा की ओर ले जाएगा। मनुष्य तब यह स्वीकार करेगा महाराज कि जीवन इसी का नाम नहीं कि आप स्वयं जीवित रह लें, प्राणीमात्र के जीवन की रक्षा और उसके प्रति कल्याण-भावना, मैत्री-भावना और प्रेम-भावना रखना भी आवश्यक है। उसकी गति में, उसके प्रत्येक पद से भूलोक में क्रांतियाँ जन्मेंगी और परिवर्तन के भूचाल आएँगे। उनकी दृष्टि से कल्याणामृत का वर्षण होगा और उसके प्रत्येक संकेत से शान्ति का स्रोत बहेगा। वह बहुजन के कल्याण और बहुजन की शान्ति के निमित्त विचरण करेगा। लोक-जीवन, वैराग्य-साधना और सिद्धि-साफल्य के क्षेत्रों में वह नव-नवीन परिवर्तन लाएगा।

संक्षेप में वह आसिन्धु-वसुन्धरा पर धर्मचक्र परिवर्तन करेगा। उसके द्वारा प्रवाहित मुक्तिधारा युग-युगान्तरों तक मानव-मन के कल्मष का प्रक्षालन करती रहेगी, पाप के प्रपंचों से और काल के वक्र-चक्र के कारण भले यह धारा दुबली होकर ओझल होती प्रतीत हो परन्तु कभी मिट न सकेगी। समय पाकर जिस प्रकार तरुवर फलते-फूलते हैं और जीर्ण-शीर्ण पत्तों को तज कर नवांकुर उपजाते हैं, उसी प्रकार देव और मानवों के इस सिद्ध-अर्थ तरुण की मुक्तिधारा प्रतिपल नवजीवन और शक्ति पाती रहेगी।'

'अरे देव, तू तो आज मुझे इस दोपहरी में भी विश्राम न लेने देगा। अब मुझे कपिलवस्तु जाना पड़ेगा, ऐसा प्रतीत होता है।'

जल्दी-जल्दी महर्षि कालदेवल ने अपना उत्तरीय सँभाला। कमण्डल उठाया। मुँह पर पानी के दो छींटे दिए। और मुँह और दाढ़ी के बालों में उलझे जल-बिन्दु पोंछे बिना ही वेगपूर्वक वे हिमगिरि के आँगन में उतर पड़े। हिमवान के पहरुओं ने और उस अन्तहीन प्रदेश में तपस्या करने वाले साधुओं ने कालदेवल को यों बिखरे-बिखरे, भागे-भागे जाते देख अनुमान लगाया कि हो न हो आज धरा पर दाल में कुछ काला है। हिमगिरि के शृंगों की बर्फानी चोटियाँ पिघल कर जैसे किसी देव-शिशु के चरण धोने को आकुल, चल पड़ी हैं!

साधुओं ने, पहरुओं ने पूछा—"अरे महाराज, जरा सुनिए, ऐसी जल्दी में कहाँ जा रहे हैं?"

लेकिन कालदेवल को इतनी फुरसत कहाँ थी कि इन बेकार के लोगों की बातों का उत्तर देते। उत्तर न पाकर पीछे से धीमे ये लोग बोले—"बुड्ढा सठिया गया है। देखो न, इस भरी दोपहरी में ऐसे भाग रहा है, जैसे कहीं आग बुझाने जा रहा है।"

सवारों की खट्-खट् सुनते ही शुद्धोदन के दरबारी, धनानन्द, प्रहरी, मन्त्री,

रानियाँ और दास-परिचारक चौंके। सम्राट ने पैरों में पड़कर कहा—"राजर्षि, बड़े अच्छे अवसर पर आए। मैं बारम्बार तुम्हारा ही स्मरण कर रहा था।"

हर्ष विभोर राजन्य को पुत्र-जन्म का सम्वाद देने की सुध न रही।

तब महामंत्री ने आगे बढ़ कर कहा—'महर्षि, आज पट्टमहिषी मायादेवी के महलों में युवराज का जन्म हुआ है।'

'मैंने सुना है, तभी तो, मैं इस असमय आया'—

कालदेवल का साँस चढ़ रहा था—'मैं शिशु को देखूँगा, जल्दी करो।'

मन्त्रीगण दौड़े। अन्त:पुर में सम्वाद गया। रानियों ने आरती के थाल, पत्र-पुष्प, कंद-मूल सजाए। लेकिन जब ऋषि आए तो, सबको परे हटाकर, अपना पथ बनाते निकल गए—'अभी समय नहीं है।'

नवजात् शिशु को स्वयं महाराज शुद्धोधन ने लाकर तपस्वी के चरणों में रख दिया। परन्तु, बालक के पैर, अपनी ओर झुके हुए तपस्वी की दाढ़ी पर जा लगे। तुरन्त ही तपस्वी उठा और हाथ जोड़, गद्गद् कण्ठ से जय-जय और धन्य भाग्य पुकारता हुआ शिशु के चरणों को बार-बार सिर माथे पर लगाने लगा।

ऋषि के बहते हुए अश्रु, शिशु का पैर उठाना और तपस्वी-वन्दना का यह दृश्य देख राजा और परिजन चकित हो गए।

'क्या बात है महाराज?' राजा ने हाथ जोड़ कर पूछा—'आप इतने विह्वल हो रहे हैं? और इस शिशु की यह वन्दना!'

'अरे शुद्धोधन, तू नहीं जानता तो चुप रह! मैं इसे प्रणाम न करूँ, तो, क्या अपने सिर के सात टुकड़े करवाऊँ?'

इसके पश्चात् कालदेवल ध्यान मग्न हुए। उन्होंने पूर्व के चालीस, और भावी चालीस—ऐसे अस्सी जन्मान्तरों का वृत्त और इतिहास दिव्य दृष्टि से देखकर, जान लिया, अवश्य यह छोकरा बुद्धत्व को प्राप्त होगा। मुक्ति इसकी चरण-रज लेगी। निर्वाण हाथ बाँधे इसका अनुचर होगा। अप्रकट उन्होंने कहा—'कैसा सौम्य व्यक्तित्व है इसका!'

और कालदेवल अपने पोपले मुँह से मुस्कराया, जिसमें नए दंतांकुर आ रहे थे।

उपस्थित जन शिशु और कालदेवल पर अपनी दृष्टि लगाए थे। कालदेवल की दृष्टि शिशु पर थी, और शिशु की दृष्टि कालदेवल पर थी। कालदेवल ने सोचा—'यह शिशु बड़ा होकर बुद्धत्व प्राप्त करेगा। परन्तु तब तक क्या मैं भी जीवित रहूँगा? काल कब से मुझे खा लेने को आतुर है। कई बार छल-कौशल से उसने

यत्न किया। कई बार प्रार्थना की उसने। शरीर का धर्म तो, मुझे निभाना ही पड़ेगा। आज नही, कल! परन्तु क्या एक लम्बी अवधि तक मैं जी सकूँगा। जब कि यह शिशु बुद्ध बनेगा?'

त्रिकालज्ञ तपस्वी ने ध्यान मे जाना—अरे, तब तक तू जीवित न रहेगा। यात्रा की समाप्ति निकट आ गई है। पंथ का अन्त समीप है। चलते-चलते आज मंजिल अशेष हो गई है। सब रहेंगे, अरे, तू अकेला न रहेगा!........'

सहस्राब्दियो की आयु व्यतीत करके भी कालदेवल के मन में 'कुछ ही वर्ष' और जीने की ललक, पिपासा बन गई। हाय रे अभागे मनुष्य! जितना जीता है, उतना मरने से मुकरता है। शताब्दियाँ देखीं, पर तेरे मन में दो-तीन दशाब्दियाँ देखने की प्यास अपूर्ण रह गई। अब यही प्यास लेकर मरना पड़ेगा, और मरते-मरते प्यास जो रह जाएगी तो मुक्ति कैसे मिलेगी?'

बालक के बुद्ध बनने से पूर्व ही, अपनी अवश्यम्भावी मृत्यु का चलचित्र देख कर, तृषा, ग्लानि, निराशा, पश्चात्ताप और प्रलोभन की पीर ने कालदेवल का हृदय-रत्नाकर उद्वेलित हो उठा। उनकी आँखें मिचमिचाई, होठो मे स्फुरण हुआ, हाथ-हथेलियाँ काँपी, जटा और श्मश्रु के केशो मे प्रकम्प छाया और फफक-फफक कर वे रो उठे। महाराज शुद्धोधन घबराकर, उनके चरणो में बैठ गए और धीरे-धीरे उनके पैर दबाने लगे। रानियाँ व्यग्र हो उठी। प्रस्तुत जन-समुदाय चित्र लिखित सा रह गया।

कालदेवल का यो फूट-फूट कर रोना असाधारण बात थी। देव, गंधर्व, यक्ष, किन्नर, असुर, जड़, चेतन, नर, नारी, किसी ने उन्हे आज तक बिसूरते नही देखा था! आज वही महामानव इस मंगल-वेला में, इस उल्लास के आयोजनो की भावना का ख्याल न कर, यों, सगुन बिगाड़नेवाली कर्कशा की तरह बिलख रहा था। दुर्मना व्यक्ति मन ही मन कहते थे, यह बुड्ढा अभी तो पोपले मुँह से मुस्करा रहा था, अभी फूटी आँखों से आँसू बहाने लगा!

'देवर्षि, कुछ कहिए तो। शिशु को कोई अशुभ होगा?'

'नही राजन्, स्वयं काल भी इनका बाल बाँका नही कर सकता। निःसन्देह यह बुद्ध बनेगा।'

मंत्री बोला—'यह तो प्रसन्नता की बात है, कि यह बुद्धि का धनी होगा। फिर आपकी आँखो मे अश्रु क्यो आए?'

'मन्त्रिगण! भोले हो, जब तक यह बुद्ध बनेगा, तब तक मैं इस शस्य-शालिनी भूमा पर न रहूँगा। दर्शन-लाभ न ले सकूँगा। अपनी इसी हानि का खेद मुझे खला रहा है।'

राज-समाज की समझ में कुछ न आया ।

'अविक भू-देव ब्राह्मणो से पूछो ।'—इतना कह, कालदेवल अपने लोक चले गए ।

मैने यह कथा, जब मै बारह-तेरह वर्ष का था तब सुनी थी । मुझे सोया जान, शैवाली की माँ एक नई सेविका को पिछला हाल सुना रही थी ।

शैवाली की माँ से नई सेविका ने जब पूछा—'कालदेवल के यह कहने पर कि अविक ब्राह्मणों से पूछो । सम्राट् ने क्या किया, आर्ये ?'

शैवाली की माँ बोली—

"कालदेवल के जाने पर महलों में राग-रंग का वातावरण छाया रहा । पाँचवाँ दिवस नवजात् शिशु के नामकरण का दिन था ।

बड़ी भोर ही राजप्रासाद का प्रक्षालन किया गया और अनेक सुगन्धित द्रव्यों का छिड़काव हुआ । स्थान-स्थान पर आम्रतोरण ओर पुष्पहार सजाए गए । पंचपुष्पो की वह सज्जा देखते ही बनती थी । स्वादिष्ट व्यन्जन भू देवो के लिए तैयार करवाए गए थे, इनमें सुस्वादु खीर प्रमुख थी । नियत समय पर एक-सौ-आठ वेदज्ञ ब्राह्मणों की अभ्यर्थना की गई । ब्राह्मणों ने शिशु कुमार के शरीर के लक्षण देखे । ज्योतिष और काल विचार किया । गणना देखी । इसके उपरात ब्राह्मणो में श्रेष्ठ आठ ब्राह्मण—राम, धज, लक्खन, मंती, भोज, सुयाम, सुदत्त और सबसे छोटा कौडिन्य, बोले—'राजन्, प्रसन्न हों आपका पुत्ररत्न बड़ा ही भाग्यवान् है । बड़े ही पुण्यात्मा और धर्मात्मा कुल में ऐसा पुत्र उत्पन्न होता है ।

देव, आपको अनन्त-लाभ है, धर्म-लाभ है, ज्ञान-लाभ है, लक्ष्मी-लाभ है और कीर्ति-लाभ है । इसमे उत्तम पुरुषों के बत्तीस लक्षण हैं । इन बत्तीस लक्षणों से युक्त महापुरुष की दो ही गतियाँ हैं, तीसरी नही ।'

'नई सेविका सुन रही हो न ।'

'हाँ आर्ये सुन रही हूँ । इस महापुरुष की दो ही गतियाँ हैं, बम्हनों ने कहा था ।'

'हाँ, परन्तु उन्होने यो ही नही कह दिया । उनमें से जो सबसे छोटा था, वह मौन बैठा था । शेष सात बम्हनों ने दो-दो अँगुलियाँ उठाकर सकेत किया दो गतियो का । पूछने पर पहले कहा आशीर्वचन दिया । तत्पश्चात् जब मन्त्री-जनो ने आगे प्रश्न किए तो सातो भू देव बोले—

—'महाराज, आप का यह पुत्र विश्व के इतिहास को नई दिशा देगा । सहस्त्रों वर्षो तक राजनीति को नया रुख देगा । मानव-स्वभाव को नया रूप

देगा। हे सम्राट्, यह होनहार शिशु मानव-संस्कृति की प्रगति को अभिनव-गति देगा और समस्त संसार के प्रतप्त प्राणियों को नया धर्म देगा। महाराज, इस देव-पुत्र शिशु की दो ही गतियाँ हैं, तीसरी नहीं। यदि यह राजमहल में टिका रहा, तो, अपनी तलवार की नोक से सारी धरती नाप आएगा, अपने वेगवन्त रथ के चक्र से पृथ्वी का चप्पा-चप्पा छान लेगा। जहाँ-जहाँ सूर्य का प्रकाश है और जहाँ-जहाँ अंधकार है, वहाँ-वहाँ इसकी राज्य-सीमा और विजय-पताका पहुँचेगी। लेकिन'......

नई सेविका सुन रही हो न! ब्राह्मणों के कहते-कहते रुक जाने पर, परम-भट्टारक ने चौंक कर पूछा, पूज्यवर, 'लेकिन' कहते आप मौन क्यों रह गए? वे बोले—'हाँ, विधि का विधान है, इसमें मनुष्य की पहुँच नहीं। सारांश है कि महाराज यदि यह घर में रहा तो यह धर्मराज, चतुर्दिक विजय पानेवाला, शांति-प्रस्थापक और सात रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा। स्पष्ट है राजन् कि इसके पास चक्र-रत्न, हस्ति-रत्न, अश्व-रत्न, मणि-रत्न, स्त्री-रत्न, गृहपत्नी-रत्न, और सातवाँ पुत्र-रत्न रहेंगे। और तुम्हारी तरह यह धरित्री को शस्त्रास्त्र से नहीं जीतेगा, यह सागर पर्यंत इस भूमा को दण्ड और शस्त्र के बिना ही धर्म से जीत लेगा। परन्तु राजन्, यदि यह देवकुमार घर छोड़कर बेघर हो गया, प्रव्रजित हो गया, तो, संसार में माया के इस आवरण को हटा देगा, मार के प्रहारों पर विजय पाकर सम्यक्-सम्बुद्ध, अर्हत् होगा। यदि यह राजमहल की रानियों और काम की पुत्रियों के रूप-सौन्दर्य का बन्दी न बना, तो, अपनी ज्ञान-ज्योति से अज्ञान का अन्त कर, विज्ञान को अनन्त विकास देगा। और क्षत्रियों के दिग्विजय के स्थान पर, धर्म-विजय करेगा'। कल्प-कल्पान्तों तक इसके धर्म की शरण में व्यक्ति और समाज, राज्य और राष्ट्र, शान्ति और सुरक्षा ग्रहण कर, अभय होंगे। महाराज इस रूप कुमार की दो ही गतियाँ हैं, तीसरी नहीं।'

इतना कहकर, ये सप्त ब्राह्मण चुप हुए ही थे कि उनमें से जो आठवाँ और सबसे छोटा, पर सबसे विलक्षण और तेजस्वी ब्राह्मण था वह अपनी शिखा बाँधते हुए उठ खड़ा हुआ जैसे सिंह-सुवन उठा हो, जैसे जनकपुर में सीता के स्वयंवर में परशुराम को ललकारने लक्ष्मण कुमार उठा हो! कुछ वैसी ही छवि-भंगिमा थी इसकी। कहती हूँ, इसका नाम कौडिन्य था, इसने सभा और ब्राह्मणों के बीच खड़े होकर, अपनी एक ही उँगली उठा कर कहा—'महाराज शुद्धोधन, इस देवपुत्र की एक ही गति है दूसरी नहीं, तुम धन्य हो राजन्! तुम्हारा यह शिशु बड़ा होकर धरती को नया धर्म देगा। यह निश्चय ही सम्यक्-सम्बुद्ध-अर्हत् होगा। मैं इसके प्रमाण में बत्तीस लक्षण प्रस्तुत करता हूँ।....

'राजन् और ब्राह्मणो ! इस कुमार की दिव्य देह देखो—इसके पदतल में सर्वाकार-परिपूर्ण नाभि-नेमि युक्त सहस्र आरोंवाले चक्र हैं। यह सुप्रतिष्ठित-पाद है, अर्थात् इसका पैर धरती पर समान पड़ेगा। यह आयत-पार्ष्णि है। दीर्घ-अंगुल है। मृद-तरुण हस्त-पाद है। जाल-हस्त-पाद है यानी उँगलियो के बीच कहीं छेद नही दिखाई देता। यह उस्संखपाद है। यह एणी-जंघ है। यह विना झुके दोनों घुटनों को अपने हाथ के तलवे से छूता है, अर्थात् महाराज यह आजानुबाहु है। यह सबसे बड़ा लक्षण है। इसकी वस्ति-गुह्य कोपाच्छादित है। विप्रवरो, जरा इसका काचन वर्ण देखो, इसकी सुवर्ण त्वचा देखो। इसकी काया पर धूल और मैल नही लग सकता, क्योंकि यह सूक्ष्म छवि है। इसके एक-एक रोम कूप में एक ही रोम है, इसलिए यह एकैकलोम है। यह ऊर्ध्वाग्र-लोम है। लम्बे अकुटिल शरीरवाला—ब्राह्म-ऋजु-गात्र वाला है। सप्त-उत्सद है। इसके वक्ष-स्थल का ऊपरी भाग मृगराज केसरी की भाँति विशाल है, राजन् ऐसे भाग्यशाली को सिंह-पूर्वार्द्ध-काय कहते हैं। यह स्पष्टतया चितान्तरास, न्यग्रोध-परिमडल, समवर्त-स्कन्ध, रसग्ग-सग्ग, सिंह-हनु, चव्वालीस-दातों से युक्त है। इतना ही नही समदंत है, इसके दाँतों के बीच कही कोई छेद नही रहेगा। सु-शुक्ल दाढ़, प्रभूत-जिह्व है। जन्मोपरान्त उस दिन तुमने इसका मधुर स्वर नही सुना नरेन्द्र !

'इसका स्वर ब्रह्म स्वर है। यह अलसी के फूलों-जैसी आँखोंवाला और गाय-जैसी पलक वाला—गो-पक्ष्म है। देव, इसकी भौहों के बीच श्वेत और कोमल कपास-सी रोमराजि है। यह उष्णीपशीर्ष है—यही इसका बत्तीसवाँ लक्षण है...

'और मैं समस्त ब्राह्मणों और कालगणनाकारो को चुनौती देकर कहता हूँ, इस कुमार की एक ही गति है दूसरी नही। यह तुम्हारे महलों मे, तुम्हारी रंगशालाओं में और रंगवन्ती बालाओं के बाहुपाश में बँध न सकेगा। यह अवश्य घर छोड़ कर बेघर होगा।........

'राजन्, जिस प्रकार गुहा से निकले सिंह का गर्जन निश्चित् है, जिस प्रकार गर्भस्थ प्राणी का प्रसव निश्चित् है, जिस प्रकार प्रभाकर का प्रकाश निश्चित है और जिस प्रकार आर्द्रा के उदय होने पर पावस-वर्षा निश्चित् है, उसी प्रकार कालज्ञ सतों की वचन पूर्ति निश्चित् है और उसी प्रकार इसका सम्यक्-सम्बुद्ध होना निश्चित् है। महाराज शाक्य कुमार की एक ही गति है, दूसरी नही।'

आलि मेविके, कौडिन्य का इतना कहना था कि राज-सभा में, तुषारपात् के पश्चात् पत्रहीन पेड़ों पर जैसी स्तब्धता छा जाती है, वैसी आशाहीन निस्तब्धता छा गई। किन्तु बड़े वीर हैं, हमारे महाराज, उन्होंने अपना धीरज न खोकर,

कौडिन्य से पूछा—'भू देव, किन कारणों से मेरा बेटा घर छोड़ कर बेघर हो हो जाएगा ? हम अपने जाते उसकी अरक्षा न होने देंगे ।'

'भूपेन्द्र, कथन आपका यथार्थ है । प्रथमतः यह वृद्ध पुरुष देखेगा । जरा की दशा से दुखी होगा । उसके बाद, रोगी को देखकर उसका मन करुणा से छला-छल भर जाएगा । फिर यह मृतक को देखेगा और क्रमशः उसके मन का द्वन्द्व बढ़ता जाएगा—'मैं आयु की अवधि को मिटा दूँगा, मैं मृत्यु और जरा को मिटा दूँगा । मैं रोग-शोक और भव-बाधा का निवारण करूँगा । मैं मनुष्य से मनुष्य के बीच की दूरी को भर दूँगा ।' राष्ट्रों की अनाक्रमक एकता और सन्धि पर जोर देकर यह कहेगा—'तथागत कहता है, अखिल विश्व एक परिवार है ।'.......

'लेकिन राजन् तुम धन्य हो और मैं कौडिन्य धन्य हूँ । क्योंकि हम दोनों और ये सब सभासद् उसके प्रताप को देखेंगे । मैं कालदेवल की तरह रोऊँगा नहीं । मैं भावी बुद्ध का शिष्य बनूँगा । और ये त्रिकालदर्शी ब्राह्मण भी समय-पाकर उसके शिष्य बनेंगे'—इतना कहकर कौडिन्य अपने आसन पर बैठ गया ।

सो, सुमुक्ति-सेविके ! ब्राह्मणों को विपुल दान-दक्षिणा देकर विदा कर देने पर, परम भट्टारक ने मंत्रियो, कुल-परिजन—अस्सी सामन्तो और पुर-रक्षकों की एक सभा अपने निजी कक्ष में निमंत्रित की । इस बैठक में सर्वसम्मति से यह निर्णय निकला कि शाक्य कुमार की सर्व प्रकारेण रक्षा की जाए । उसे कदापि प्रव्रजित न होने दिया जाए ।

कहते हैं उस सभा में महाराज बड़े उदास हो कर बैठे थे और यह कहते-कहते कि, मैं अपनी आँखो सिद्धार्थ को मध्य-मण्डल के राजमार्गों पर, गृह-द्वार-हीन, जटा बढ़ाए, भिक्षा-पात्र लिए, भीख माँगते नहीं देख सकूँगा, उनकी आँखो में आँसू भर आए ।

मन्त्रियो और मतदायको ने राजा को आश्वासन दिया और सभा विसर्जित हुई ।

अपने विषय में यह संवाद और घटनाएँ जानकर मेरी उत्सुकता इसी प्रसंग में कुछ विशेष जानने की हुई, सो कई दिनों तक मैं रात्रि में अपनी शैया पर झूठ-मूठ ही आँख बंद किए सोता रहता । कई दिनों की प्रतीक्षा के बाद जब नई सेविका की सेवा नियुक्ति मेरे कक्ष में हुई तो, एक साँझ प्रकोष्ठ-दीप संजोते हुए उसने पौवाली की माँ से अग्र-कथा कहने का अनुरोध किया ।

आर्या ने कहा, लेकिन यदि किसी ने देख-सुन लिया कि हम युवराज के महलों में ऐसी चर्चा कर रहे हैं तो हमें सीधे स्वर्ग पहुँचा दिया जाएगा । इस पर सेविका बोली . अच्छा पुरुष तो सब सो गए हैं । आर्या पास में रात के [illegible]

हैं । गोप अभी सुरा में मत्त हो मेरा पीछा करते-करते थक कर सीढियों पर पड़ा ऊँघ रहा है । ले, अब तू ही कह किसका भय है !

नई सेविका का कथा-रस देख, शैवाली की माँ भी अपनी चपल-वाचालता पर अंकुश न रख सकी—

"कालदेवल के मन का पश्चात्ताप कुछ कम हुआ तो, उसने बार-बार यह सोचा कि उसे भावी बुद्ध के दर्शन करने का सौभाग्य तो, दुर्भाग्यवश न मिलेगा, किन्तु उसके किन सम्बन्धियों को यह अवसर प्राप्त होगा ? और उसने अपनी दिव्य-शक्ति से देखा कि उसका भाञ्जा नालक—भावी-सम्यक् सम्बुद्ध की बुद्धि-विभा का दर्शन कर कृतार्थ होगा ।

कालदेवल को चैन कहाँ । वह जो काम एक बार ठान लेता है उसे पूरा करके ही छोड़ता है सम्भवतः इसी दृढता ने उसे महर्षि बनाया । देवल अपनी बहन के निवेश की ओर लम्बे डग बढा कर चल दिया ।

उसकी बहन भद्रा आँगन मे दासियो के साथ बैठी धान साफ़ कर रही थी, और अपने एक छोटे मुन्ने को बहलाने के लिए अपने भाई की—मुन्ने के मामा की विरुदावली बखान रही थी ।

तभी सचमुच मामा आन पहुँचा ।

भद्रा ने उठकर देवल का स्वागत किया—'बड़े दिनो मे आए भैया ।' वह दौड़ी-दौड़ी भीतर गई और पैर धोने के लिए जल-पात्र ले आई । लेकिन कालदेवल को इतना धैर्य कहाँ ! उसने व्यग्रतापूर्वक प्रश्न किया—'नालक कहाँ है ?'

'वह अभी ही शाला से लौटा है, और यवागू का भोजन कर रहा है ।'

इतना सुनते ही कालदेवल आँधी की तरह रसोई-घर में गए—'नालक, बेटा नालक, कहाँ है भो नालक ?'

मामा को देख कर नालक अति प्रसन्न हुआ । क्यों कि जब-जब मामा आते हैं एक न एक नई गाथा या घटना उनके पीछे लगी रहती है, नालक को आशा थी कि इस बार भी मामा एक न एक नया सम्वाद लाए होंगे। वह मामा के चरण छूने के लिए थाली से उठने लगा पर मामा ने उसे रोक दिया । भद्रा भी पीछे-पीछे आ गई ।

मामा कालदेवल ने कहा—'नालक, भो नालक, तू बड़ा भाग्यशाली है रे; तू बड़ा भाग्यशाली है ।' इतना ही कह पाए थे कि महर्षि फूट-फूट कर रोने लगे । भगिनी ने पूछा—'दादा कुशल तो है ?'

'सब कुशल है। कालदेवल के कुल पर अपनी परछाई डालते हुए अमंगल और अकुशल की काया काँपती है।'

'फिर भैया ये आँसू कैसे ?'

'भद्रे, शुद्धोदन की रानी माया ने एक पुत्र-मणि को जन्म दिया है, मेरा भविष्य-विज्ञान कहता है कि आज से पैंतीस वर्ष पश्चात् यह राजपुत्र बुद्ध बनेगा। यही भावी बुद्ध है।'

'धन्य भाग है भैया, जो उनके दर्शन करेंगे।'

कालदेवल ने अपने उत्तरीय से आँखें पोंछते हुए कहा—'मुझे तो, उसके पूर्व ही जाना पड़ेगा। लेकिन इस नालक के लक्षण कहते हैं कि इसे भावी बुद्ध की सेवा का अवसर मिलेगा।......नालक, ओ नालक, अरे तेरा ध्यान किधर है ? नालक उठ खड़ा हो, अपूर्व वेला है यह। उठ, इसी क्षण संन्यास ले।'

नालक थाली छोड़कर उठ खड़ा हुआ। थाली में परसा—अनखाया भात, थाली में रह गया। माँ देखती रह गई। 'भैया...भैया' उसके मुँह से इतना ही निकला और वह मूर्च्छित हो कर गिर पड़ी।

भान्जे का बायाँ हाथ थामे, कालदेवल अपनी प्रचण्ड गति से प्रांगण पार कर रहा था। द्वार, झरोखों, गवाक्षों से दास-दासियाँ, परिचारक, परिजन झाँक रहे थे। और भद्रा के भवन से भी ऊँचा कालदेवल का विजय उद्घोष उठ रहा था—'बुद्ध शरण गच्छामि।'

और उस दिन शाक्यों की राजपुरी मे ही प्रथम बार भावी बुद्ध की शरण का माहात्म्य-गीत उठा !

वातायन में खड़ी भद्रा की दासी ने कहा—'सत्तासी कोटि के अधिपति इस बालक को कौन-सी कमी थी, जो वन में पूरी हो जाएगी ?'

हाट-बाट में आकर देवल ने नालक के केश काट दिए, पीत चीवर पहना दिया और हाथ में मिट्टी का भिक्षा-पात्र दे, इस बाल संन्यासी की छवि देखने लगा।

फिर जिस दिशा में भावी बुद्ध थे उस दिशा में नालक ने हाथ जोड़ कर—'बुद्धं शरणं गच्छामि' कहा। इसके पश्चात्, उसने अपने कन्धे पर लटकती झोली मे भिक्षा-पात्र रख दिया और उत्तर दिशा में हिमाचल पर्वत की ओर, तपस्या के हेतु चल पड़ा।' ....

नई सेविका ने पूछा—'और अम्मा, उन आठ ब्राह्मणों ने अपने लिए क्या निर्णय किया ?'

'सेविके कौडिन्य तो पूर्व जन्मो मे बुद्धों का शिष्य रह चुका था और वह

उसका अन्तिम जन्म था। वह अपने भविष्य के विषय में निश्चिन्त था कि उसे भावी बुद्ध की शरण में जाना है। परन्तु शेष जो सात ब्राह्मण थे वे अपने-अपने आवास लौट गए और पुत्रों को बुला कर बोले—'तात, हम तो वृद्ध हो चले। मरण-पर्व समीप आ गया है। और हम भले जीवित रहे या मृत्यु के मंदिर मे जाएँ, शाक्य कुमार बुद्ध होगा। उस पावन-वेला के आगमन पर कम से कम तुम तो, प्रव्रज्या ग्रहण कर, जीवन-लाभ लेना। तुम्हारा कल्याण होगा।'

ब्राह्मण कुमारों ने अपने-अपने जनक की बात ध्यानपूर्वक सुनी और वचन दिया कि वे अवश्य उस महाज्योति की कृपा-किरण प्राप्त करेंगे।



[११]

छन्दक के साथ खेलता-खेलता, एक दिन मैं उसकी कुटिया पर पहुँच गया था, जो प्रासाद के एक छोर पर बनी हुई थी।

छन्दक की माँ अन्ना उस समय राजकीय अश्वो को दाना-पानी दे रही थी। मुझे आया जान वह प्रसन्न हुई, और दौडी-दौडी एक चौकी ले आई–'बैठो कुमार।'

'हाँ अन्ना, अच्छी तो हो ?'

'अच्छी हूँ, तुम्हारी छाया मे कौन सुखी नही है ?'

'एक वृद्ध, जो मैंने छन्दक के साथ, एक दिन राजमार्ग पर देखा था। जानती हो अन्ना, वह तुमसे भी अधिक वृद्ध था। उसके सारे केश सफेद हो गए थे और वह तो, दो पग भी कठिनाई से चल रहा था......

बीच में छन्ना बोला—'छोड़ो भी कुमार'...और प्रसग बदलने के लिए उसने कहा—अब तो, अम्मा, कुमार के लिए हेमन्त के बाद, दूसरा ग्रीष्म-प्रासाद भी बन गया है। इन गर्मियो में अम्मा हम वही रहने वाले हैं।'

मैंने हँस कर कहा—'सामन्तो और श्रेष्ठियो के इन भवनो के निर्माण में जाने कितने लोगो का शोषण होता है! हज़ारो व्यक्ति बेघर-बार होते हैं, तब ज़मीन मिलती है महलो के लिए। और लाखो भूखे-प्यासे, पीड़ित प्राणियो का परिश्रम और पसीना बहता है, तब कही जाकर प्रासादो की मंज़िले ऊँची उठती हैं! ठीक है न छन्दक ?'

'कुमार, आपको तो बस, जब से उन भिखमंगे को देखा, यही धुन लग गई गई है! आख़िर कोई श्रमिक काम न करे, तो क्या करे ?'

'कुछ करे, न करे यह समाज-विधायको की चिन्ता का विषय है। इसका तात्पर्य यह तो नही कि व्यक्ति का श्रम उसे मात्र दो जून की रोटी जुटा दे ?'

'यह तो बेटा, अपना-अपना भाग है।' अन्ना ने नन्हे अबलक को हरी घास डालते हुए कहा।

'भाग्य कहती हो इसे! मनुष्य स्वय अपना भाग्य बनाता है। हेमन्त और

ग्रीष्म प्रासादों में रहनवाले कब आए थे भवन बनाने ? फिर भी वे इन भवनों में गर्व और दर्पपूर्वक रहते हैं और उन श्रमिकों का क्या हुआ, जिन्होने आँधी और अंधड़, तूफान और तुषार के बीच महल की नींवों में अपनी हड्डियाँ गलाई हैं और दीवारों को अपने खून से चमका कर लाल किया है। यदि उनके वे लाख-लाख हाथ न उठते तो, कहाँ से आते ये अट्टालिका-भवन और रेशमी वस्त्र ! ये स्वर्ण और कंचन के आभूषण क्योंकर बनते....जानती हो अन्ना, तुम्हारे और तुम्हारे वर्ग के इन हाथों का चमत्कार ?...भोली अन्ना सिर क्या हिला रही हो ? तुमने दिन देखे हैं, तो दिन को दिन और रात को रात क्यो नही कहती ?....ये इन हाथों का ही चमत्कार है कि खदानों से, धरती की तहों से धातुएँ प्रगट हुई। इन हाथों को छू कर मिट्टी सोना हो गई. जो आज उच्चवर्गीय किशोरियों के कानों में कुण्डल बन कर लहरा रही है।....इन हाथों ने खेतो को हरियाली और पौधों को फूल दिए हैं। ज्ञान और विज्ञान का विकास श्रमिको ने किया है, श्रेष्ठियों, सामन्तो ने नही। तुमने कभी सुना अन्ना, कि किसी सेठ ने किसी यान या यन्त्र का आविष्कार किया ? तुमने कभी सुना, अमुक सामन्त ने अमुक औषधि की खोज की है।....उन्होने क्या दिया, जो सर्वस्व ले लेते हैं....छन्ना, अन्ना, वे परोपजीवी हैं, अब अधिक दिन उनका यह छल-बल नही चलेगा....आज आदमी की पलकों से नींद उचट गई है और उसकी करवटों में शताब्दियाँ अँगड़ाई ले रही हैं। वर्ग और वर्ण के ये भेद जल्द मिट जाएँगे अन्ना, तुम्हारे देखते-देखते मिट जाएँगे, जरूर मिट जाएँगे।'

'परन्तु मनुष्य का क्या भरोसा कुमार, यदि फिर किसी ने भेद की खाइयाँ खोद दी तो ?'

'मनुष्य फिर विद्रोह करेगा और उन खुदी हुई खाइयों को पाट देगा। मनुष्य की सघर्ष-परम्परा का अन्त नही। उसके बार-बार के प्रयत्न पर उसकी विजय होगी और तब न रहेगी खाइयाँ और ऊँचाइयाँ और न रहेगे उन्हे खोदनेवाले...........

'अम्बा जानती हो, महाराज ने कुमार के इन नए प्रासादो में कितना खर्च किया है ?... सौ कोटि।'

'सौ कोटि, क्या हज़ार से भी अधिक होता है लल्ला !'

'हजार क्या, लाख से भी अधिक होता है।'

मेरी बलाइयाँ लेती हुई वह भोली वृद्धा बोली—'कितने अच्छे है हमारे महाराज ! कुमार के प्रति कितना अगम अनुराग है उनका ! और प्रजा की भी

उन्हें रात-दिन चिन्ता सदैव घाट, कूप और भवन, सरोवर बनवाकर लाखों लोगों को रोजी-रोटी देते हैं वे। छन्ना, वासन्ती के ससुराल से लौटने पर अगले शनिवार तक हम भी ये नए प्रासाद देखने चलेंगे रे! फिर जब कुमार रहने लगेंगे तो, चौकी-पहरे में हमें कौन जाने देगा ?'

'अन्ना, मैं तुम्हें सच कहता हूँ मैं न रहूँगा इन महलों में। मैंने प्रजा माँ के झरोखों से देखा है, जब ये महल बन रहे थे, कैसी चिलचिलाती धूप और लू में मजदूर पत्थर ढो रहे थे! जब धरती लावा उगल रही थी और आसमान शोले बरसा रहा था, तब भी वे नंगे-भूखे श्रमिक अपने काम में लगे थे! मैंने उनकी नंगी-काली पीठ पर कड़कते चाबुक सुने हैं...अन्ना मैया आज भी उनकी सड़-सड़ मेरे कलेजे के कोने-कोने को काटती है, सालती है उनकी चुभन। ढीले नूपुरों और नगे गीतों की गूँज में राज-कक्षों के यक्षों को इन सड़सड़ाते चाबुकों की मार नही सुनाई देती! परन्तु, एक दिन आएगा जब ये अभागे उठ खड़े होंगे और नूपुरों की छनछनाहट नृत्य पूरा होने के पहले ही रुक जाएगी और वारुणी के पात्र अधरो से लगने के पूर्व ही स्थिर रह जाएँगे! तुम नही जानती अन्ना, तुम नही जानते छन्दक, कुल-कान्ताओ के उन प्यालों मे जिस दिन उन्हे इन मजलूमो के विद्रोही चेहरे की परछाई दिखाई देगी, उस दिन धरती में पहली-बार मनु-पुत्र नए विधान की रचना करेगा। तब न रह जाएगा चन्द सामन्तों और श्रेष्ठियो के हाथो में लाखों-लाखो लोगों का भाग्य।...छन्ना तुम कितने भोले हो सकते हो, यदि तुम यह कहते हो कि ये आभिजात्य इसी प्रकार अनन्त-काल तक जनता का योंही भक्षण करते रहेंगे। क्या तुम्हारा ख्याल है, जनता सोती ही रहेगी? क्या लोग भूखे ही रहेंगे?........

'क्या शोषण चलता ही रहेगा, पाप फलता ही रहेगा? भोले हो, बहुत भोले हो, यदि तुम्हे अपनी सन्तानों के सुन्दर भविष्य की आशा नही! पाप का घट भरता है। बूँद-बूँद का प्रयत्न उसकी सीमा का अन्त कर देगा। और जिस दिन अभिनव घट-विस्फोट होगा, आज के ये स्वामी नही रहेंगे, जनता अपनी जय का नारा उठाएगी और आकाशवाणी कहेगी....'प्रजा बदल गई है, लोक में क्रान्ति हुई है!'....

'कुमार आज शाला नहीं गए? असित गुरु स्वस्थ तो हैं न?'

'आजकल शाला महलों में ही लगती है। असित की बातों में अब मेरा मन नही लगता। वे बार-बार एक ही बात दुहराते हैं—ईश्वर सर्व शक्तिमान् है। ईश्वर यों है, त्यो है। राजा परम पवित्र है। ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है।...लेकिन मैं

पूछता हूँ अन्ना, ईश्वर सर्व शक्तिमान् है तो, यह अन्याय क्यों कर सह रहा है ? राजा पवित्र है तो प्रजा भी पवित्र है। राजा की पवित्रता प्रजा के अस्तित्व पर है। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, शूद्रों के होने से है। शूद्र के अभाव मे श्रेष्ठ की उपमा कैसे और किससे दी जाएगी ?...

'तुम यह रामनामी कंठी कहाँ से उठा लाई, अम्मा ! किस धूर्त्त ने तुम्हें ठग लिया है ?'

'ऐसा न कहो कुमार, माँ को यह कंठी एक तपस्वी गुरु ने दी है।'

'यह सब ढोग है। वर्ग-संघर्ष को रोकने का जाल है। अपनी उदरपूर्ति का प्रपंच है।...ईश्वर को सर्व-शक्तिमान् स्वीकार करते हो पर वह तुम्हारे कौन से काम आता है ! क्या वह तुम्हारे लिए खेत जोतता हैं, बगीचे बोता है, तुम्हारी रोटी की चिन्ता करता है ? तुम्हारी पीठ पर पड़ते एक कोड़े से तुम्हारी रक्षा नही कर सकता तो, क्यो कहते हो उसे सर्वशक्तिमान् ?

अन्ना, मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है। वह स्वयं अपने वर्तमान् और भविष्य की रचना करता है। मनुष्य ही ईश्वर का विधाता है। क्या तुमने देखा है, ईश्वर को मनुष्य बनाते ? लेकिन सारी दुनिया जानती है कि मनुष्य ने ईश्वर को बनाया। छन्दक, यह तो, तुम भी जानते हो कि कार्य-कारण का सम्बन्ध कैसा है ? हर एक कार्य का एक न एक कारण अवश्य होता है—ऐसा ईश्वरवादी पडित कहते हैं—वे कहते हैं कार्य-कारण के नियमानुसार संसार का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए और वह कारण है परमेश्वर। किन्तु इन पंडितों से कोई पूछे कि ईश्वर किस प्रकार का कारण है। क्या ईश्वर संसार पर निर्भर है ? क्या उभय परस्पर आश्रित हैं ? ईश्वर क्या उपादान कारण है ? जिस प्रकार सुघट-घट का कारण मिट्टी है, अलंकार का कारण सोना या चाँदी है सो यदि ईश्वर इस संसार का उपादान कारण है तो अर्थ यही हुआ कि संसार परमेश्वर का रूपान्तर मात्र है, जैसे मिट्टी बदल कर घड़ा बन गई। घडा गल कर पुन. मिट्टी बन गया। सोना ढल कर अलंकार बना। और अलकार गल कर पुनः सुवर्ण बना। यदि यही कारण-प्रकार हैं तो, अन्ना यह कहना होगा कि इस दृष्ट-जगत में जितना सुख-दुख है, वह सब ईश्वर में है, ईश्वर के कारण है, और ईश्वर का रूपान्तर है।

यदि ईश्वर इस जगत का उपादान कारण है तो, वह निर्विकार कैसे हो सकता है ? यदि हम ईश्वर को निमित्त कारण मान ले, तो यह प्रश्न फिर भी रह जाएगा कि वह क्या बिना किसी उपादान कारण के ससार की रचना करता

है। जिस प्रकार कुम्भकार घड़े को बनाता है। स्वर्णकार आभूषण बनाता है।

यदि हम बिना उपादान कारण के सृष्टि रचना मानते हैं तो, मानना होगा कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती हैं। इसमें भला, ईश्वर की जरूरत कहाँ रह जाएगी। अब तो, कार्य कारण का सिद्धान्त भी चल न सकेगा और यह आवश्यक न रह जाएगा कि संसार का कारण हम ईश्वर को मानें। ईश्वर ने संसार को कुम्हार की भाँति जगत से अलग रह कर बनाया या उसमें व्याप्त हो कर? यदि वह अलग है तो, फिर हम उसे सर्वव्यापक कैसे कह सकते हैं? और जब वह सर्वव्यापक नहीं है तो अवश्य ही उसने सृष्टि-रचना के लिए अन्य सहायकों का सहयोग लिया होगा। और अवश्य वह अन्य साधनो पर निर्भर रहा होगा।

अन्ना, यह ठीक समझ लो कि यदि ईश्वर संसार का सृष्टा है और मनुष्य उसके हाथ का खिलौना है, उस पर निभर है, उसके आश्रित है, तो चलो छुट्टी मिली। तो, सारा दायित्व ईश्वर पर रह जाता है। फिर तो सारे शोषण और अत्याचार का भार ईश्वर को अपने बूढ़े कधों पर उठाना होगा?

यदि सृष्टि का आदि नहीं तो, उसकी रचना भी अनादि है। फिर यह बीच में ईश्वर कहाँ से आ टपका? क्योंकि कार्य के समय उसके कर्त्ता और कारण का भी होना सिद्ध होना चाहिए।

एक चीज़ सुन लो छन्दक, मनुष्य को ईश्वर के अधीन मानते हो तो, यह नहीं हो सकता कि मनुष्य अपनी इच्छानुसार अपना निर्माण करे। फिर यह कैसे कहोगे, मनुष्य अपना स्वामी है? और जब मनुष्य अपने ही अधीन नहीं है तो, उसे कोई भी काम या प्रयत्न करने की छूट और सुविधा कहाँ?...'

वहाँ से जो लौटा, तो पूरी राह में इसी चिन्तन में तल्लीन रहा। प्रासाद पहुँचते-पहुँचते मेरे मन ने यह साक्षी दी कि मनुष्य अपना सृष्टा आप है। वह अपने ही कर्म-फल-स्वरूप, अपनी वर्तमान अवस्था में है। और उसकी भावी अवस्था भी अपने कर्मो पर निर्भर है। मनुष्य को अपने कार्य-कलाप की स्वतंत्रता रहेगी, तभी न वह सत् पुरुषो के बताए सद्मार्ग पर चल सकेगा। जो स्वयं दूसरे का दास है, वह कैसे करेगा अपना कल्याण?

सिद्धकाम और पूर्णकाम बनने के लिए मनुष्य का स्वतंत्र होना आवश्यक है। स्वतंत्रता ही मुक्ति है!

★

[१२]

तब महाराज ने पूछा—

'कालदेवल, किन कारणों से कुमार राग को छोड़ कर विराग की शरण जाएगा ? किस प्रकार वह गृह-त्याग कर अनिकेत हो जाएगा ?'

'शुद्धोधन, तेरा बेटा पहले एक वृद्ध जीवधारी देखेगा। उसके कारण मन में करुणा और वृद्धावस्था के प्रति विराग उत्पन्न होगा। उस रात वह इतना उद्विग्न हो जाएगा कि कोई उसे विराम न दे सकेगा ! कही वह बँध न सकेगा।'

'तो उसे कैसे बाँधा जाए ? कालदेवल, तुम मेरे मित्र हो। मेरे मन-प्राण की गति जानते हो। सिद्धार्थ मेरे बुढ़ापे का एकमात्र सहारा है। वह मेरी माया की एकान्त धरोहर है। कालदेवल, जहाँ साक्षात् काल की गति नही, वहाँ तुम बेखटके पहुँचते हो। ज़रा योग साधो, मन को एकाग्र करो मेरे मित्र, और अपने इस बूढे बन्धु को बतलाओ कि सिद्धार्थ का भविष्य क्या है ?'

'तुम बड़े दुराग्रही हो शुद्धोधन। तुम क्या महाकाल की पीठ पर सवार होना चाहते हो ? इस बुढ़ापे में भी विजय-प्राप्ति की तुम्हारी लालसा नही मिटी राजन् ! कुछ भी करो, कुछ भी कहो, कुमार वृद्ध प्राणी को देखेगा, ज़रूर देखेगा, अवश्य देखेगा। यह कालभोज कालदेवल की भविष्यवाणी है, किसी बनिए की बानी नही।'

'कालदेवल, तुमने शुद्धोधन की तलवार का पानी देखा है। उसकी तलवार धधकती आग के दो टुकड़े कर सकती है। उसकी यह तलवार जल-प्रवाह को काट कर दो धाराओं में बहा सकती है, तुमने इसे शोणित-धारा बहाते, तो अपनी आँखों अनेक बार देखा है, कालदेवल !....कौन है ? बन्धुमान्, नगरनायक से कहो कि आज से सिद्धार्थ कुमार के महलों का पहरा आधे योजन तक बढ़ा दे। इस पहरे की परिधि में कोई भी प्राणी मेरे आदेश के बिना प्रवेश न करे.... हा...हा...हा, ठीक है न कालदेवल ! देखता हूँ अब तुम्हारे विधाता का वृद्ध कैसे दिखलाई पड़ता है ?'

'शुद्धोवन, तुम मनुष्य हो और मनुष्य की शक्ति और योजना की सीमा होती है। जो अदृष्ट है उसे तुम नहीं देख सकते।'

'एक वृद्ध बेचारे की क्या बिसात! स्वयं शुद्धोवन शाक्य कुमार के प्रासादों का प्रहरी बनेगा। फिर वृद्ध तो क्या, स्वयं काल की परछाईं भी कुमार के प्रासाद तक नहीं पहुँच सकेगी।'

'एक वृद्ध नहीं शुद्धोवन, तेरा यह बेटा रोगी को भी देखेगा। रोगी की ही बात नहीं शुद्धोधन, तेरा यह रत्न बड़ा होनहार है, यह एक मृतक भी देखेगा। एक मृतक मानवी से क्या होगा, इस भ्रम में न रहना, सिद्धार्थ कुमार एक संन्यासी के भी दर्शन करेगा।..... .

वृद्ध को देखकर उत्पन्न हुआ उसके मन का आश्चर्य, रोगी को देखने पर करुणा में बदल जाएगा। और मृतक के दर्शन-मात्र से वह जीवन की क्षण-भंगुरता पर विचार करेगा, उसकी अनन्त और अबाध चिन्तना उसे सृष्टि के समस्त पदार्थों में नश्वरता देखने के लिए वाध्य कर देगी और तब देखूँगा तेरी तलवार का जौहर शुद्धोवन! तेरी तलवार मनुष्य को मार सकती है, आग पानी को काट-बाँट सकती है, परन्तु कुमार के विचारो का विनाश नहीं कर सकेगी। तूने कभी तलवारो से विचारों का हनन देखा है?'

'ठीक कहते हो कालदेव, तुम स्वयं बताओ, मैं क्या करूँ? कालदेवल, काश, तुम अचेल, दिगम्बर सिद्ध न होकर, मेरी तरह एक विधुर होते! काश, तुमने पिता का हृदय पाया होता? काश, तुम्हारी अन्तरात्मा में ब्रह्म के बजाय किसी शिशु की तुतली बोली समायी होती? तुम्हारी आँखों-आगे युगो का अधकार प्रत्यक्ष होता और दूर पर यदि कहीं आशा का एकमात्र प्रदीप झिलमिलाता होता, तो बताओ ब्रह्म के जिज्ञासु, तुम क्या करते? तुमने परलोक तो देखा कालदेवल, लोक नहीं देखा। तुमने वैराग्य की गोद बनाई, परन्तु गृहस्थाश्रम में रह कर, माँ का अपने लाल को दूध पिलाना तुमने नहीं देखा, कालदेवल! इसी से इस निष्ठुर वैराग्य और निष्काम-ज्योति की बाते बघारते हो।

'बन्धुमान्, नगरनायक को स्पष्ट कह दो कि आज से कुमार के किसी मार्ग में वृद्ध-भिखारी, नंगा-भूखा, कोई रोगी-दरिद्र, कोई मृतक, कोई सन्यासी न आ सके। और ऐसा कुछ करो कि कुमार राग से विराग की ओर न जा सके। हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा-प्रासादो में सुरा और सुन्दरियो का प्रबन्ध चौगुना... नहीं सौ गुना कर दो .. अभी वहाँ कितनी नर्त्तकियाँ हैं बन्धुमान्! क्या कहा, बीस हजार? तो, चालीस हजार और बढा दो। महल के प्रांगण में पंचशायक की

पुत्रियों का शुभागमन हो, इस निमित्त एक रस-यज्ञ की तैयारी की जाए। काल-देवल कहता है, कुमार किसी वंधन मे वँध न सकेगा ? अब देखा हूँ वन्धुमान् अग-अंग अनंग के रंग खेलती अंगनाओं की गोरी वाहुओं के वंधन में मेरा बेटा वँधता है या नहीं ?....और यही मुझे न रोको वन्धुमान्, आज के रात्रि-भोज में महाराज दण्डपाणि को आमंत्रित करो, क्या नाम है उनकी सुन्दरी वेटी का वह जो नाग-नृत्य के दिन नाची थी ?........यशोधरा हाँ, वह साक्षात् माया का अवतार है ! माया के सम्मोहन में तो, तुम्हारा ब्रह्म भी वँधा है, कालदेवल ! एक वार यदि कहो कि कुमारी यशोधरा के रतिदुर्लभ रूप-रस से युवराज आकर्षित न हो सकेगा तो मै तुम्हारा दिगम्वरत्व अपना समूचा साम्राज्य देकर खरीद लूँगा। हा........हा........हा, मै तो कहता ही रहा कालदेवल, विराग से राग बड़ा है, ब्रह्म से माया वड़ी है, लेकिन तू ने मेरी वात न मानी और रूप की सुरा को छोड़, ज्ञान के खारे पानी के पीछे भटकता रहा ! इस ओस को चाटे तेरी प्यास अव तो वुझी कालदेवल ? आखिर, कव तक यो अलख जगाता रहेगा, कव तक यह धूनी रमाता रहेगा, कव तक यों नंगा घूमता रहेगा ?

'कालदेवल, दुनिया जीवितों के लिए है, मुर्दो के लिए नहीं—और वे सव मुर्दे हैं जिनका मन मर गया है, जिनकी तृष्णा वुझ गई है और जिनकी तृपा मिट गई है। योग के महाकूप मे पहुँच कर मुक्ति का अमृत पीने के पूर्व, भोग की सीढ़ियाँ उतरनी पड़ेगी कालदेवल ! वैसे तुम स्वयं ज्ञानी और तपस्वी हो। मेरे दस-सहस्र हाथियों ने आज तक जितनी धूल नही उड़ाई, उतनी तुम अपनी इकलौती काया पर लपेट चुके हो, मृत्युजयि !

'वन्धुमान् ! महाराज दण्डपाणि को सन्देश भेज दिया है न ? शैवालिके, गान्धार से आया वह नया पात्र तो लाओ। लेकिन, जरा उसका आच्छादन धीरे हटाना। उसकी मदिर गन्ध से भीग कर कालदेवल का मुक्तिकामी-मन, काम-कामी न वन जाए, वरना उसके योग्य शंखिनी सारे कपिलवस्तु में ढूँढ़े न मिलेगी।........अरे, वह वूढ़ा कहाँ गया ?'

'गया कहाँ ? वारुणी का पात्र खुलने से पूर्व ही, नूपुरो का छम् वजने से पूर्व ही मंत्रवल से ओझल हो गया। गया होगा, उसी देवलोक में जहाँ सदियों पुरानी अप्सराएँ ऐसे-ऐसे नगे-भूतों की वाट जोहती हैं।'

'तेरी वानी झूठ होते हुए भी सच है शैवाली, क्योंकि तू मेरे शब्द पर अपने शब्द की मुहर लगा रही है !'

'हम गुलामों का यही काम है, अन्नदाता !' शैवालिका ने झुक-झुक कर कहा।

यह बात मुझे वर्षों उपरान्त किसी ने बताई थी, आज प्रसंग आने पर याद हो आई।

और आज मैं सोचता हूँ उन सामन्तों और श्रेष्ठियों ने अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए क्या-क्या न किया? ब्राह्मणों, पंडितों और पुरोहितों ने सत्य के मुँह पर किस निर्लज्जतापूर्वक कालिख पोती? धन ने धर्म को सरे बाजार खरीदा। और उसकी अर्धांगी सत्य की देवी, सत्या का चीर हरण कर उसे दिन दहाड़े, उन राजपथों पर कि जिन पर न्याय की रक्षा का स्वांग भरनेवाले सम्राटों के जुलूस निकलते हैं और न्याय-मंत्रियो की सवारियाँ चलती हैं और परम्परा के पोषक ब्राह्मणो के स्वर्ण-रथ दौड़ते हैं—विवसना किया!

उच्च वर्णों की, वर्गों की इस अभिसंधि ने मेरे रोम-रोम में विद्रोह की वह्नियाँ सुलगा दी हैं।. अब तो, सुनो हे शाक्यो के साम्राज्य की शृंखलाओं के बंदीजनो, या तो तुम्हारी शृंखलाएँ चूर-चूर होंगी या राजकुमार भरत की इस पूण्य भूमि पर सिद्धार्थ नाम का कोई मानवी दृष्टिगोचर न होगा....आज से मुझे अपने ही कुल-रक्त की शपथ है, अन्धकार के विरुद्ध मेरा संग्राम अन्तिम साँस पर्यंत चलेगा। मौत को जीवन की शरण आना ही पड़ेगा। देव-सृष्टि की कल्पना पर मानव-सृष्टि की सचाई विजयिनी होगी।

आज से मैं अन्याय के विरुद्ध सतत संघर्ष करूँगा—मैंने अपने अटल निश्चय को चुनौती दी।



[१३]

आषाढ़ मास का पहला दिन। कपिलवस्तु के जन-सागर में उल्लास की उमंग-तरंगे हिल्लोलित थी। आनन्द का ऐसा ज्वार चढ़ा था, चढ़कर जो न उतरे।

आज हलोत्सव था। वर्षागमन पर हम शाक्यों के राजा और प्रजा-जन अपने-अपने खेत की जुताई करते रहे हैं। युगों से यह पर्व-प्रणाली हमारे जनपद की परम्परा वन गयी थी।

राजा जनता द्वारा निर्वाचित लोक-प्रतिनिधि है। जनता के जीवन का एकमात्र आधार कृषि-कार्य है। वाणिज्य और व्यवसाय भी रहे, परन्तु उन्होने वणिकों का एक वर्ग विशेष वना दिया। जनता के शोषण की एक वृत्ति व्यवसायियो मे पैदा कर दी। तभी न मैं कहता रहा हूँ कि निगण्ठ नायपुत्त ने जो तथाकथित नया धर्म दिया, वह धर्म नहीं वर्ग है। नाथपुत्त ने सामन्तवादी वर्ग के समानान्तर शोषकों का एक नया वर्ग रच दिया—पहले जो वैश्य बेचारे खेती करते थे, पशु-पालन जिनका धर्म था—नायपुत्त ने कर्महीनता की ऐसी रट लगाई कि इस जाति ने कर्म को छोड़ना आरम्भ किया और कर्महीन परोपजीवियों की एक नई जाति वन गई। कर्म जव न रहा, श्रम जव न रहा तो, इन निगंठवादी वणिकों का काम रह गया—खाद्य का क्रय-विक्रय, लाभ पर वस्तुओं को वेचना, वस्तु-संचय और पदार्थ-संग्रह। अपरिग्रह का जितना शोर इन्होंने किया, उतना ही परिग्रह इनमें था, और भी वढ़ता गया। इसीलिए तो मै कहता रहा हूँ ब्राह्मणों की सभ्यता में सहयोगी है नायपुत्त। एक ओर पुरोहितों का वर्ग, दूसरी ओर वणिकों का सम्प्रदाय। फिर भी निगण्ठ नाथपुत्त क्रांतिकारी कैसे? वह तो सुधारक है सुधारक। उसके सुधार में भी, अवैज्ञानिकता है, फलस्वरूप समाज की नव रचना तो नही हुई, उसके आँगन में दरारें पड़ गई और नई दीवारें खड़ी हो गई, जिन्होने व्यक्ति को व्यक्ति

से अलग कर दिया। अभिनव समाजवादी समाज की रचना के बजाय उसने व्यक्तिवादी, कर्महीन समाज की रचना की।

उस दिन पिताजी भी हल-बैल लेकर अपना खेत जोतने आए थे। साथ में राज्य के सभी पदाधिकारी और उनके अंत:पुरों की महिलाएँ भी थीं। परम-भट्टारक का हल चाँदी-सोने का था। उसके आगे स्वर्ण-शृंखलाओं में जुते गोंडा-धारी वृषभ थे। इन वृषभराज के सींग सोने से मढ़े हुए थे—मुझे इतनी ही धुँधली-सी याद है।

सहस्रों नर-नारी इस उत्सव में आए थे और एक मेला-सा लग गया था। मुझे भली भाँति स्मरण है नायपुत्त के अनुयायी जीव-हिंसा के भय से हलोत्सव में भाग नही ले रहे थे। उनमें से कुछ तो अनुपस्थित भी थे, उन्हें भय था कि यदि दूसरे कृषकों को वे कृषि-कर्मनिरत देखेंगे तो उन्हें भी, देखने मात्र से जीव-हिंसा का दोष होगा। खैर।

एक जम्बु वृक्ष की छाया में खड़ा-खड़ा मै पिताजी को हल जोतते देख रहा था। धरती माँ से उसके बेटे का यह स्नेह-सम्बन्ध मुझे अच्छा लगा। यो हम धरती के कितने निकट आते हैं! जितना गहरा होगा धरती से हमारा सम्पर्क, उतनी गहरी होगी हमारी सामाजिक शक्ति और एकता। धरती जीवन देती है। ऐसी धरती के सम्पर्क में जीव-हिंसा माननेवाले निगण्ठवादी का भविष्य क्या होगा—यही मेरी चिन्ता का विषय था।

मैं तो अपने इन्ही विचारो में खोया रहा। मुझे मालूम नहीं कब मैं पद्मासन मे आसीन हुआ और कब मेरे पास की परिचारिकाएँ समारोह के दर्शन की उत्सुकता मे आगे बढ़ गई। हाँ मेरे कानो में रह-रह कर बैलों की पीठ पर पड़ते कोड़ों की आवाज़ आ रही थी और आ रही थी सजी-बसी बालाओं की खिल-खिल—बालाएँ जो गजरे और वेणी गूँथने के लिए बेरहमी से फूलों को तोड़ रही थी। आज मैं सोचता हूँ बालाओं की वह निर्दयता उनकी आयु के कारण थी, नवयौवना तो वे थी ही, मन में उमगते काम-विलास का प्रवाह-वेग था वह, जिसमें बहती वे कोमल कलियो और पुष्पों को एक झटके मे तोड लेती थीं, उन्हें छेदती-बेधती थी या मीज-मसलकर फेंक देती थी। उनके कण्ठ से सुरीले गीत उठ रहे थे। गजरों और मालाओं से वे अपना शृंगार कर रही थीं, माथे पर उनका मुकुट रखती, कानो में उन्हे पहनती और अलनाए केशों में उन्हे खोस लेती।

कैसे हैं ये लोग—कोई वृषभों को यन्त्रणा दे रहा है, कोई हरी-हरी घास

को काट रहा है और ये रमणियाँ और ये बालिकाएँ है कि मूक कलियो को, पल्लवो और प्रसूनों को अपने वृन्त से विलग कर रही हैं।

जब मानव-मन का आह्लाद या अवसाद बड़ा, बहुत बड़ा हो जाता है तो, दुनिया बहुत छोटी हो जाती है। और तब उसे भूल जाना साधारण हो जाता है। मैं अपनी तन्मयता का अवगाहन करता रहा।

इस पवित्र हलोत्सव में एक सौ आठ प्रधान हल थे। इनमें एक-सौ सात चाँदी के और एक हल जो परम भट्टारक का था, सोने का था। उसकी सभी चीजे लाल स्वर्ण की थी। मैंने देखा था पिताजी बड़े रस और कौशल से हल चला रहे थे। एक सौ आठ हल एक साथ चल रहे थे और यों धरती माता की पूजा कर रहे थे। खेती से बडी धरती माँ की पूजा और क्या होगी! महाराज कभी अपना हल राजकीय खेत के इस कोने से उस कोने तक चला ले जाते, कभी इस ओर से उस ओर तक वेगपूर्वक पहुँच जाते। उनका हस्त-लाघव दर्शनीय था। वैसा ही उनका शुद्ध स्वरूप भी था। शाक्यों की आनुवंशिक परम्परा मे सम्भवतः वे सर्वाधिक सुन्दर थे। और इधर जब से उनके केश श्वेत हो चले थे और दाढ़ी के बाल भी चँवर की तरह सफेद हो गए थे—उनके वदन की दीप्ति वर्द्धमान हो गई थी।

इस वेला हलोत्सव पर्व का समारोह अपने सर्वोच्च बिन्दु पर था। जनोल्लास, मनोल्लास और रसोल्लास का अखण्ड परावार बह रहा था। उस पारावार से अछूता कोई बचा था, तो वह मै ही था। परिचारिकाएँ इतस्ततः थी। उन्हे तो पर्वानन्द और सुरानन्द के कारण अपनी ही सुधि न थी और नख से शिख तक वे वास में बसी थी। फिर भला क्यों कर उन्हें मेरी सुध रहती?

पहाड़ी ढाल से उतरती भीलनी की तरह साँझ ढलने लगी थी और छायाएँ घनीभूत होकर पूर्व की ओर फैल रही थी। शेष छायाएँ सिमटे या प्रसरें जम्बु वृक्ष की छाया अपने स्थान पर अचल थी। उसकी गोलाई और परिधि का चक्र अभंग था। मै उसकी उपमा-उपमान के आधार पर जन्मान्तर के चक्र की गति को समझने का प्रयत्न कर रहा था। जीवन और मरण मनुष्य की निर्भयता की कसौटी है। जब मनुष्य जीवन के सभी रहस्यों का भेद जान लेता है और जीवित जगत् की कोई भी समस्या शेष नही रह जाती, तो, उसके मन में मृत्यु की लालसा उत्पन्न होती हैं, क्योकि मृत्यु और कुछ नही, एक उलझी हुई गुत्थी है, एक बेसुलझा, बिन बूझा रहस्य है।

इस बीच दाइयाँ और दासियाँ आई होंगी। उन्होने मुझे विचारस्थ देखा होगा। लोग कहते थे। यह मुझे तो कुछ मालूम नही।

दासियाँ दौड़ी-दौड़ी महाराज के पास गईं और बोली—'देव. की जय हो ! राजकुमार जहाँ विराजमान हैं, उस स्थल पर जम्बु वृक्ष की गोल छाया अब तक अपनी परिधि में अचल है, मानो वह अपनी गोलाई में युवराज की परिक्रमा कर रही है।'

'महाराज ने प्रसन्न हो कर कहा—'धन्य है भो, मेरा कुमार।'

दासियो के साथ महाराज जम्बु-द्रुम के नीचे आए। और मेरे कंधे पर धीमे अपना हाथ छुआ कर बोले—'बेटा, ऐसी नन्ही आयु में बहुत-बहुत सोच विचार करना ठीक नही। तीसरा पहर ढल गया। साँझ आ गई है। अब हमारे लौटने का समय हो गया, उठो, ज़रा देखो, कितने-कितने लोग उत्सव मे भाग ले रहे हैं और तुम हो कि यहाँ यो मौन-मौन बैठे हो !'

मैंने उठकर पिताजी को वन्दन किया और आसन छोड़ कर, एक ओर खड़ा हो गया। वे बोले—'देखो कुमार, रोहिणी नदी के पार पादप-पुंजों में मयूरो का सुन्दर नृत्य ! वृक्षो की शाखाओ पर विरमते पंछीगण कैसा मधुर कलरव कर रहे है। तुम्हारे साथी बालक भी विविध लीलाओ में भाग ले रहे हैं, अकेले तुम्ही यो उदास क्यो बैठे हो ?'

'मैं उदास नही था पूज्यवर, मै इस छाया-चक्र के समान गोल-गोल घूमते जन्मान्तर और आवागमन के चक्र की गहराई पर विचार कर रहा था।'

महाराज की आँखे विस्मय से फैल गई—'इस आयु में ऐसे विचार ! अभी तो तुम निरे अबोध बालक हो बेटा ! सखा-सगियों के साथ खेलो-कूदो शोर मचाओ। मैं तो तुम्हारी चचल चुहुल-छेड़छाड़ की शिकायत सुनने को उत्सुक हूँ, और तुम यो साधुओ की तरह मौन साधे बैठे हो !'

'साधु क्या होता हैं पिताजी ?'

महाराज, चौंक उठे। उन्हे अपनी भूल ज्ञात हुई। साधु का तो नाम भी नहीं लेना चाहिए।

'कुछ नही बेटा, कुछ नही... कुछ नही.... आओ घर चले।' पिताजी ने मेरा हाथ थाम लिया। मै उनकी आज्ञा मान लौट पड़ा। परन्तु अभी भी मेरे मन में यह प्रतिध्वनि घहरा रही थी—'जन्मान्तर क्या है ? है या नहीं ? जन्म से अधिक आकर्षक है मरण का रहस्य पा लेना !'

हलोत्सव की घटना मुझे देवदत्त और अजातशत्रु ने सुनाई थी। काफी

काल बीत जाने पर मुझे यह ज्ञात हुआ था कि बचपन से ही देवदत्त किस प्रकार मुझसे विरोध रखता है ?

वह चाहता था कि अवश्य मैं घर छोड़ कर चला जाऊं। अपने अधिकार और अपने परिवार का परित्याग कर दूं, तो राज-सिंहासन उसे मिल जाए।

वसुधा पर शासन करने की व्यक्ति की कामना की कहानी विश्व-इतिहास में अति विचित्र रही है। देवदत्त को भी देखा, उसके छल-छन्द भी देखे। परन्तु, मुझे अब तक समझ में न आया, राजा बनने के लिए व्यक्ति दूसरे आदमी की राह में क्यों कर काँटे बोता है ? देव ने मेरे मार्ग में बहुत-सी बाधाएँ खड़ी की, किन्तु आज मैं सोचता हूँ उनसे मेरा क्या बिगड़ा ! मेरा तो हित ही हुआ— उसके बोए शूल मेरे पथ के फूल बन गए !



[१४]

'महाराज दण्डपाणि ने क्या उत्तर दिया बन्धुमान् ?'

'अपराध क्षमा हो देव, दण्डपाणिजी ने कहा है कि यशोधरा और सिद्धार्थ का विवाह-सम्बन्ध होने के पूर्व, कई सामाजिक असुविधाएँ हैं, पहले उन्हें सुलझाना होगा।'

'बन्धुमान्, क्या कहते हो ! मेरे बेटे के लिए, कोई अपनी लड़की देते हुए इस प्रकार समस्याएँ उपस्थित करे ! स्पष्ट कहो, क्या बात है ?'

'मैं पुनः क्षमा-प्रार्थी हूँ परम भट्टारक। दण्डपाणि कहते हैं कि उन्हें यशोधरा के हाथ के लिए और भी कई सामन्तो और सामन्त-पुत्रों के सन्देश मिले हैं।'

'लेकिन बन्धुमान् ! चाँद, चाँद है और नक्षत्र, नक्षत्र ! कौन हैं वे ?'

'महाराज धनुर्धर अग्निदत्त, खड्ग-विजेता नन्द, अश्वारोही अर्जुन तथा पराक्रमी देवदत्त स्वयंवर में युवराज के प्रतिद्वन्द्वी हैं।'

'कुछ भी हो, यशोधरा और सिद्धार्थ के हाथ पीले होने ही चाहिए। कुमार के लिए यशोधरा से अच्छी लड़की मेरी नज़र मे दूसरी नही। और उस दिन, नाग-नृत्य के अवसर पर सिद्धार्थ को यशोधरा की भंगिमा भा गई थी, यह सच है न, बन्धुमान् ?'

'सत्य है देव ! छन्दक भी यही कह रहा था !'

'और गृह-मन्त्री, पिछली सौन्दर्य-प्रतियोगिता में भी वह यशोधरा विजयिनी हुई थी न। मेरा ख्याल है उसी दिन से युवराज का हृदय भी यशोधरा के प्रति आकर्षित हुआ है। और यशोधरा के मन में भी प्रेमांकुर उगा है।'

'देव की जय हो, चरो की सूचना भी परम भट्टारक के अनुमान का पोषण करती है।'

महाराज ने दर्प से कहा—'गृह-मन्त्री बन्धुमानजी, एक यशोधरा क्या, मैं अपने बेटे के लिए लाख-लाख यशोधरा खड़ी कर सकता हूँ। यह तो तुम

दण्डपाणि से कह ही देना। दण्डपाणि रिश्ते में माया देवी के भाई होते हैं, इसी से मैं चुप हूँ कि उस मृतात्मा को मेरी ओर से असन्तोष न हो, वरना जानते हो, अब तक यशोधरा युवराज के रनिवास में होती।''

'धैर्य रखिए दयानिधान, अधीरता नीतिज्ञों को शोभा नही देती। मैं आज पुनः महाराज दण्डपाणि की सेवा में जाऊँगा।'

'नहीं ! यशोधरा हो, या न हो यशोधरा। परसों वसंत-पंचमी का शुभ दिन है। सिद्धार्थ कुमार का व्याह मै उससे आगे स्थगित नही कर सकता।'

'महाराज क्षमा करे, यशोधरा कुमारी राज्य की सौन्दर्य-प्रतियोगिता में भाग ले चुकी हैं। जिसमें पंचों ने उन्हें साम्राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी घोषित किया है। इधर पुण्यनाम महिषी प्रजापति देवी भी उस पक्षवालों से चर्चा चला चुकी हैं। इतना ही नहीं, लोगों में बात भी फैल गई है। ऐसी दशा में यशोधरा से सिद्धार्थ का व्याह न होना, कपिलवस्तु तथा शाक्य-कुल के गौरव एवं सम्मान के विपरीत रहेगा।'

इसी बीच कक्ष में छन्दक कही से आ गया। उसे देख कर महाराज शुद्धोधन के मन को सान्त्वना मिली। कहने लगे—'सुनते हो छन्दक, यह तुम्हारे दण्डपाणि क्या कह रहे हैं ?'

'सुन चुका हूँ नाथ ! वे स्वयंवर चाहते हैं।'

'स्वयंवर, स्वयंवर...आखिर क्यों ?'

'दास का अपराध क्षमा हो देव, दण्डपाणिजी को कुमार की शूरता में सदेह है। वे कहते हैं—जो सिद्धार्थ साधारण कीट-पतंग और पशु-पंछियो को पीड़ित देख कर, रो देता है, वह समरस्थल में शत्रु का संहार कैसे करेगा ?'

महाराज सोच में पड़ गए—'हूँ' उन्होंने इतना ही कहा—'छन्दक, ध्यान रखना, दण्डपाणि का यह उत्तर कुमार के कानों तक न पहुँचे। अन्यथा मेरे भोले बेटे के मन को आघात लगेगा। अब बन्धुमान् तुम्ही बताओ मै क्या करूँ ?'

'मेरा विचार है देवेन्द्र, आप तनिक सिद्धार्थ कुमार को बुला भेजें और उनकी मनस्थिति देखकर, धीमे-धीमे दण्डपाणिजी का कथन स्पष्ट कर दे। हम उन्हे यह भी बता देंगे कि किस प्रकार देव, अग्नि, अर्जुन और नन्द भी यशोधरा के अभिलाषी हैं। युवराज शाक्य कुल के सिंह-शावक हैं। यह सब सुन कर, उनके मन में देवपुत्रोचित शौर्य और उत्साह जागृत होगा। यशोधरा के अभाव की परिकल्पना से वे कदापि व्यथित न होंगे, अवश्य स्वयम्वर में प्रतिपक्षियों को हराकर अपनी प्रिया का वरण करना चाहेंगे।'

फिर छन्दक बोला—'इसके अतिरिक्त, देव, कुमार से गुप्त रख कर यशोधरा

के लिए दण्डपाणिजी पर ज़ोर डालना या उनकी स्तुति करना—दोनों शाक्य-वंश की उज्वल परम्परा के प्रतिकूल हैं।'

'महाराज रोष में भर गए और बोले—'अवश्य प्रतिकूल है। कुमार को अभी बुलाओ छन्दक, मैं अपने इकलौते का पराक्रम देखूँगा।'

मेरी उपस्थिति पर पिताजी ने मुझसे कहा—'आज मैंने तुम्हें विशेष कारण से बुलाया है बेटा! वरना, इस समय तुम्हे कष्ट न देता।'

'मैं आपकी सेवा में उपस्थित होऊँ, इससे बड़ा हर्ष और क्या हो सकता है? कल ही तो माँ रामचन्द्र के राजतिलक की कथा सुना रही थी। मैं जब-जब राम की पितृ-भक्ति की पुण्यकथा सुनता हूँ, तो मेरा हृदय गद-गद् हो जाता है।'

महाराज ने मुझे छाती से लगा लिया और छन्दक तथा बन्धुमान् की तरफ़ देखकर गर्व से बोले—'ब्राह्मणों की भविष्यवाणी याद है बन्धुमान्? मेरा बेटा नौखण्ड भूमि का चक्रवर्ती अधीश्वर बनेगा।'

फिर वे मुझे अपने पास बिठाकर बोले—'सुना है तुमने? महाराज दण्डपाणि की दुहिता यशोधरा कुमारी का स्वयवर निश्चित् हुआ है।'

'मैंने सुना है, शैवालिका देवदह गई थी, वहीं से सम्वाद लाई है।'

'तो सिद्धार्थ तुम भी स्वयंवर में प्रतियोगी बनोगे न?' पिताजी के चेहरे पर आशा, आकांक्षा और उत्सुकता के भाव, शान्त सरोवर में, एक के बाद एक आती लहरों-से आए, गए।

यशोधरा के प्रति मेरा आकर्षण अबोला न था। फिर भी, विवाह-सूत्र में बँधने के लिए मैं प्रस्तुत न था, क्योंकि उससे वैराग्य की उस राह में अवरोध आता था, जिसका राही मैं बनना चाहता था। यशोधरा मुझे एक सहेली की भाँति प्रिय थी। इसका यह अर्थ तो न हुआ कि हम दोनो विवाह के बन्धन में बँधे? वह चाहे जैसा, अपना जीवन-पथ चुने, परन्तु मुझे तो अपनी राह चलना है।

आज मैंने देखा, मेरे इस निश्चय के सफल होने में अनेक कठिनाइयाँ है। पिता का प्रेम मेरे मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है, और ज्यो-ज्यो मैं उनके लिए सोचता हूँ त्यों-त्यो यह पितृ-प्रेम मेरी कमजोरी बनता जाता है। माँ की मृत्यु के पश्चात् पिताजी का मन कोई न बहला सका। छन्दक और शैवालिक कहते रहे हैं, मुझे देख कर पिताजी की आशा फलवती होती है।

तब मैंने अपनी भावुकतावश यह तय किया कि पिताजी के हृदय को ठेस न लगे, ऐसा कुछ करना चाहिए और इस विचार-वीथि पर चलने पर मुझे उस जगह रुक कर सोचना पड़ा, जहां विवाह अनिवार्य हो जाता है। तब मैंने अपने से ही कहा, चलो, पितृ-प्रेम के पाश में बँधना ही है।

दूसरा कारण यह भी रहा कि यदि मैं असित ऋषि के उन शब्दों का अनुगामी बनता, जो मेरे कानों में जागृत रहे हैं तो, यशोधरा का विवाह अन्यत्र-अन्य युवा से हो जाता, इसमें हमारे कुल की कोई बड़ी हानि चाहे न होती परन्तु, हमें नीचा तो देखना ही पडता ।

यशोधरा मेरे साथ सैर को गई है । हँसी-खेली है । लोग तो यह समझते हैं कि उसके पीछे है मेरा अनुराग । परन्तु, मेरा अनुराग तो, अपनी माँ के लिए, खूँटे से रस्सी तुड़ाकर भागने का प्रयास करते छौने-जैसा है । मेरा यह अनुराग-छौना उधर जाने को ललक रहा है, देश-देशान्तरों में, जहाँ ग्राम-नगर के एकान्त कुटीर में कोई अस्सी वर्षीया वृद्धा भूखी बैठी है । मेरा अनुराग उसके लिए आकुल है, जिनके पास देव-प्रतिमा पर चढ़ाने के लिए चार चावल भी नही हैं । मेरा अनुराग उस दिशा में व्यग्र है, जहाँ पेड़ की छाया में कोई अनाथ प्रसूता गरजते बादलों से बचने की कोशिश कर रही है । यदि मैं उसकी नग्नता को भौतिक सुख-साधन और सुविधा से ढँक सका तो, मेरा बुद्धत्त्व पूर्ण हो जाएगा । मेरी लगन उस ओर है जहाँ आदमी, दूसरे आदमी की पीठ पर सवार है । जहाँ हरेक बड़ा अपने से छोटे का भक्षण कर रहा है, जहाँ प्रत्येक प्राणी का जीवन दूसरे प्राणी की मृत्यु पर आधारित है । जहाँ ज्ञान के जिज्ञासु का अन्तर साधनो के अभाव में तड़प-तड़प कर रह जाता है । वहाँ है मेरा तीर्थ । वही है मेरे अनुराग का रंगमंच !'

ये थी राहे ! लक्ष्य और दूरियाँ—मैं इनकी ओर देख-देख कर सोचता रहता, विचार करता । निर्णय और कल्पनाएँ बाँधता । और इस सारी प्रक्रिया के मध्य उभर आती दो छायाएँ पिता का चेहरा, और यशोधरा की तस्वीर। एक आशाकुल। दूसरी प्रेमाकुल ।...

यशोधरा की अनावृत्ता झाँकी । छरहरा वदन । त्रैलोक्य नचाती आँखे और दिग्विजयिनी भावभंगिमाएँ ।....ऐसा प्रतीत होता, अपने चेहरे का घूँघट उसने मेरे चेहरे पर डाल दिया है और यो, अवगुंठन नही है चन्द्रमा पर कि वह अपनी कलाओ में और भी सरस और सजग हो उठा है ।....

लेकिन स्त्री का क्या ? उसकी एक मुस्कान ही इस प्रकार खिल उठती है कि उसके चेहरे का घूँघट बन जाती है !



[१५]

महाराज शुद्धोधन बोले—'नमस्कार करता हूँ। खूब आए कालदेवल! अभी ही हम ने कुमार को यशोधरा के स्वयंवर में भेजा है।'

'बहुत अच्छा किया राजन्! तुम प्रति दिन उसके वैराग्य का मार्ग प्रशस्त करते जा रहे हो।'

'क्या कहते हो?'

'ठीक कहता हूँ।'

'तुम्हारा ठीक बेठीक होता है और तुम्हारा बेठीक बेठिकाना-ठीक होता है।'

'यही ईश्वरेच्छा है। इसे तुम नहीं समझ पाओगे।'

'मैंने अभी बन्धुमान् को बुला भेजा है कि स्वयंवर के समाचार हम तक पहुँचाने का प्रबन्ध हो जाए।'

'इतनी-सी बात! लो, मैं तुम्हें यहीं बैठे स्वयंवर का दृश्य दिखा देता हूँ।'

इतना कह कर कालदेवल ने तीन बार ताली बजाई। पल भर में देवदह नगर में स्वयंवर-स्थली का दृश्य मूर्तिमान् हो उठा।

विशाल-पण्डाल। दर्शकों का अपार-सागर। सज्जा ऐसी कि जैसे दिशा-दिशा ने सिंगार किया है। सभी आमन्त्रित पाहुन यथास्थान बैठे हैं। एक ओर यशोधरा अपनी सहेलियों के साथ उपवन के फूलों में गुलाब-सी सुशोभित हो रही है। दुंदुभि बज रही हैं।

'प्रतियोगियों में तीव्र प्रतियोगिता चल रही है।...वह देखो, नन्द का रंग-बिरंगे पंखोंवाला तीर! अरे, कितनी दूर स्थित लक्ष्य को उसने वेध दिया। और यह कौन? अर्जुन है। यह तो उसी दूरी से शर-संधान कर रहा है। अब अग्निदत्त की बारी है। वाह, कैसा मनोरम है उसका हस्त-लाघव! अब देवदत्त आया है। देखो महाराज, दर्शक उसके स्वागत में तालियाँ बजा रहे हैं। और वह भी अपने गर्व से बोझिल है। अरे, यह तो और दूर चला गया! क्या यहां

से चलाएगा तीर ? वाह शाक्य-कुल का शौर्य ! तीर कैसा निशाने पर बैठा, जैसे वायु-तरंग की चपेट में पतिंगा आया हो।...जरा, यशोधरा का मुख-कमल देखो राजा, देवदत्त की इस विजय राका में कुम्हला गया है ! लोग फिर तालियाँ बजा रहे हैं। यह लो तुम्हारा सिद्धार्थ आ गया। सच, इसके हाथ में रुपहरे रंग की प्रत्यंचावाला धनुष बड़ा मोहक है। यह अपने किन्ही विचारों में खोया है क्या ? किधर चला जा रहा है ? लोग हँस रहे हैं। राजा का बेटा हुआ तो क्या ? जिसकी त्रुटि होती है, जनता उस पर हँसती है। भूल न जाओ शुद्धोधन, जनता सदैव विजेताओं का वन्दन करती है।....अब रुक गया है कुमार। यह तो देवदत्त के स्थान से भी आधा कोस दूर चला गया। 'यहाँ से करेगा मेरा बेटा शर-सन्धान।' बड़े फूल रहे हो राजा। अभी तो आशा के झूले में झूलो। निराशा जब आएगी तो, तुम्हें प्रसन्न न पाएगी। दुख हमे उतना कष्ट नही देता, जितना सुख के विगत दिवसों का स्मरण। लो वह चला....ती....र...अ....धन्य है। अब उद्घोषक की घोषणा सुनो—'प्रतियोगी सुने। प्रतियोगिता के पश्चात् कुतर्क न उठाएँ। यह अन्तिम अवसर है, जो कुमार अपना घोड़ा चौगान के चौथे चक्कर मे सबसे पहले राजकुमारी यशोधरा के निकट पहुँचाएगा, भाग्यलक्ष्मी-सी यह राजकुमारी उसी का वरण करेगी। जीवन मे धन्य होने का यह अवसर फिर न आएगा। तरुणवरो, सावधान !'

महाराज ! नन्द और देवदत्त के अश्व अभी सबसे आगे हैं। दूसरा चक्कर भी समाप्त होने आया। देखना है क्या होता है ?.......

अरे वाह, कन्थक की गति ! अब वही अग्रणी है सूर्य की पहली किरण के साथ मुदित होते सरोज-सा खिल रहा है यशोधरा का वदन....और वह जयमाला शाक्य-कुल-युवराज की ग्रीवा में खिल रही है। आज तुम्हारी यश गंधा से दशों दिशाएँ महक उठी हैं महाराज !....भगवान् बुद्ध की जय !....यह क्या बक रहा हूँ मैं ? तुम नहीं जानते भोले शुद्धोधन—यह मेरे प्राण-प्रभु की विजय है। आज माया ने ज्ञान की शरण स्वीकार की है। माया-यशोधरा चाहे चरणों की दासी बन कर ही ज्ञान की चेतना को विमोहित करना चाहे ! परन्तु मुझे बताओ राजन्, कौन है वह, जो प्रकाश को पर्दे से ढँक सका है। समस्त संसार साक्षी है, आज तक कोई सूरज के मुख पर अवगुण्ठन न डाल सका।...'

परम भट्टारक अपने आनन्द में इतने मग्न थे कि उन्हे कालदेवल की वाचालता विचलित न कर सकी। ध्यान की किरण जब प्रत्यक्ष की धरती पर उतरी तो, वे कहने लगे—'आज मैं तुम्हें पेट भर पकवान्न खिलाऊँगा कालदेवल। कुमार की वीरता का गुण गाओ, तुम्हें मोदक उड़ाने का मौका मिला है। चलो,

आज मेरे जी का भार हल्का हुआ। मैं जानता था, कोई पुरुष सुन्दरियों की प्राप्ति का अवसर खोना न चाहेगा। कामिनियों के पल भर के एक कटाक्ष ने तपस्वियों की सहस्र वर्ष की तपस्या पर विजय पाई है। यह युग-युग की कहानी है।....अब तो सिद्धार्थ कदापि विराग की राह न जा सकेगा। हा. . हा....हा ! मैंने अपने प्यारे बेटे को आखिर रेशमी फंदे में फँसा ही लिया।....अब मेरा बेटा सप्तद्वीप-नौ खण्ड वसुन्धरा पर राज्य करेगा। पृथ्वी, पाताल और अंबर शाक्य-कुल की कीर्ति-गाथा गाएँगे। कालदेवल ! बोलो कितने लड्डू खाओगे ?'

'शुद्धोदन ! तुम मृत्य मानव हो। इसीलिए हर्ष के समय हँसते हो और विषाद की बेला रोते हो। सुख-दुख में समान रहने की तटस्था तुम में नहीं, इसी से तुम जीते हो, इसी से तुम मरते हो। विजय-पराजय के चक्र के ऊपर-नीचे आते-जाते हो....मैं कह चुका शाक्येन्द्र, जिस प्रकार गुहा से निकले केसरी का गंभीर गर्जन निश्चित् है, जिस प्रकार निशान्त पर दिवस का उदय निश्चित् है, जिस प्रकार आकाश में ऊँचे फेंके गए ढेले का भूमि पर आना निश्चित् है, उसी प्रकार युवराज का सम्बुद्धत्व निश्चित् है। वह अवश्य, विरागी बनेगा। एक क्या, तेरी लाख-लाख यशोधराओं की अलकें उसे बाँध न पाएँगी। रसवन्तियों की कञ्चन-जघाओं का जादू उस पर नहीं चलेगा। वह अवश्य घर छोड़, बेघर होगा। तेरी देखती आँखों कपिलवस्तु की राजराहों पर भिक्षा का पात्र लेकर भटकेगा।'... कापालिक कालदेवल के कठोर कण्ठ से धीमा स्वर फूटा।

स्वर यह दिशाओं से टकराकर, धीमा पड़कर लौट आया। और बोला महर्षि—'भगवान् बुद्ध की जय हो, भगवान् ......!'

'तेरे मुँह में आग लगे कालदेवल !'

—महाराज ने कहा।



[१६]

उस दिन मैंने यशोधरा से कहा था—

'देवी यशोधरे, तुम्हें पाकर मैं अपने जीवन की रिक्त अपूर्णता को अब पूर्ण मानता हूँ। तुम्हारा वरण कर मेरे मन का शून्य रसानन्द से खिल उठा है।'

पहले तो वह नीची नजरें किए, चुपचाप खड़ी रही। फिर धीरे-धीरे उसने सालस पलकें उठाई। कैसी उनीदी आँखें थी वे! उसके कर्ण-विचुम्बी लोचनो में अथाह रस था और प्रच्छन्न गहराई की मौन प्रशान्ति भी थी!

फिर उसके अधरों मे स्पन्दन हुआ। कुछ लाज गई, कुछ झिझक मिटी और बोली वह—'देव का अनुग्रह है। मैं धन्य हुई नाथ! वर्षो से जो सपना पाल रही थी पूरा हुआ।'

'यह तो मेरे मन की कही। स्वप्न तो मैंने भी देखा था, पर जानती हो, पुरुष अपने मन का स्वप्न किसी से कहता नही, इतनी कठोरता उसमें होती है।'

मेरा इंगित कृशा-गौतमी से कहे यशोधरा के उस स्वप्न-निवेदन की ओर था, जो देवदत्त और हंसवाले दिन कृशा ने मुझे सुनाया था।

लडकियाँ बात जल्दी समझ जाती हैं। उनमे संकोच और गहराई अधिक होती है। कहने लगी—'जिसमें जितनी कठोरता अधिक है उसमें उतना प्यार भी कम है। देव! पुरुष हो या स्त्री मन की कृपणता को हम, मनुष्य में स्नेहिल मृदुता का अभाव न कहेगे?'

मै मुस्करा दिया। उसका कधा अपनी अनामिका और तर्जनी अंगुलियो से थपथपाकर, बोला—'ठीक कहती हो, किन्तु, इसका दूसरा पहलू यह भी है कि व्यक्ति की वास्तविकता इसमें नही है कि वह तुम्हारे सामने क्या-क्या प्रकट कर देता है, मेरे ख्याल से तो उसकी यथार्थ वास्तविकता, जो वह प्रकट नही कर सकता, उसमें है। अतएव. यदि हम किसी को पूर्ण रीत्या जानना चाहें तो वह जो कुछ कहता है, केवल वही सुनकर न रह जाना चाहिए, वरन् वह भी सुनने

और पाने का प्रयत्न करना चाहिए, जिसे हमारे सामनेवाला व्यक्ति नहीं कहता, कहना नहीं चाहता या कह नहीं सकता।'

'आप बड़े उदार हैं नाथ!' उसने कहा था।

दो-पाँच पल पश्चात् अपने हाथो सुराही से एक छोटी प्याली भर कर, उसे देते हुए मैंने पूछा था—तुम्हें यहाँ कोई कष्ट तो नहीं? देवदह के देवाभिप्सित, सुरकामी प्रासादो की सुविधा यहाँ कहाँ? वह तो तुम्हारी अपनी फुलवारी थी, अपना साम्राज्य था।'

मेरे मन में सकोच था। आखिर, पराए घर आई दुल्हन को सब नया, अजाना और सूना तो लगता ही होगा!

देवी तुरन्त बोली—'मैं यहाँ अपने मायके से भी अधिक प्रसन्न और आश्वस्त हूँ। देव की अमर छाया मे मुझे कौन-सी दुविधा और असुविधा हो सकती है? परम भट्टारक के वे राजप्रासाद हैं यह, जिनकी कामना शची और अन्य अमरांगनाओं के मन में भी ललकती रहती है।'

मैं जान गया, बडे शिष्ट और संस्कृत कुल की कन्या है यह। जितना ऊँचा इसका कौलीन्य है, उतना ही क्षिप्र और प्रखर इसका चैतन्य है।

वह कहती रही—'और पूज्या माँ का स्नेह तो, मेरे मन से अपनी जननी की स्मृति भी विसरा रहा है। रही फुलवारी और साम्राज्य की बात सो, स्वामी के हृदय-देश का एक कोना भी सुलभ हुआ, तो मैं उसे अपना निःसीम साम्राज्य समझूँगी। आर्यनारी के लिए पति की सेवा और परिवार की मर्यादा के क्षेत्र से बडा साम्राज्य और क्या हो सकता है देव? मेरी माँ ने तो मुझे यही कहा है।'

मैं खुश हुआ।

फिर यो ही एक दूसरे को देखते, हम बैठे रहे। जिस प्रकार भरा-पात्र खाली होता है, और खाली पात्र खाली हो जाने के लिए भर जाता है, उसी प्रकार रात की प्याली मे समय का सोमरस ढलता रहा। हवा मे एक हल्की गुनगुन थी, जैसे कार्यलीना कोई लडकी गीत गुनगुना रही हो। तारो में एक संकेत था, जैसा, समर्पिता की नजरो मे होता है।

स्वय रात में ही इतनी मादकता और विह्वलता थी कि सुराकलशो और नर्तकियो की जरूरत न थी।

मुझे लगा कि यशोधरा एकान्त चाहती है। मैंने सबको विदा कर दिया।

आँख जब खुली तो मैंने देखा—अपनी बगल मे मंगल-घट लिए यशोधरा पास में खड़ी है!

हमारे वर्षा-प्रासाद की छत पर यशोधरा ने इन दिनों एक छोटा-सा बगीचा अपने हाथों लगाया था। एक साँझ जब आकाश में जल-रहित बादल गरज रहे थे। मैं इस उपवन में आया तो क्या देखता हूँ कि एक वल्लरी की ओट बैठी यशोधरा जूथिका का गजरा गूँथ रही है। मुझे देखकर उसने कलियों को आँचल से ढँक दिया और चूनर से सिर ढँकती हुई, उठ खड़ी हुई। मैंने पूछा—'क्या हो रहा है ?'

वह कोई बहाना न पा सकी।

जूही के गजरे मेरी नज़रों से वह इसलिए छिपाना चाहती थी कि जूही मुझे भी प्रिय है, वह यह जानती थी। अत शृंगार-आयोजन पहले ही प्रकट न हो जाए, इस संकोच में वह व्यस्त रही।

'यह तो हम जान गए कि तुम्हारे पास जूही के फूल हैं, अब उन्हें दुराने से क्या ?'

'फूल जब तक देवता के शीश पर न चढ़ जाए, पत्तों की ओट छिपा रहता है। कलियों और कामनाओं को सदैव अपने तक ही रखना चाहिए।'

'कामना अप्रकाशित रहेगी, तो पुजारिन को वरदान कैसे मिलेगा ? देवता क्यों कर जान पाएगा कि भक्त की अभिलाषा क्या है ?'

'जो पुजारी के मन की न जान पाए, वह देवता कैसा ?'

इस तर्क ने मुझे निरुत्तर कर दिया और यशोधरा ने विजय की उमंग मे अपनी बड़ी-बड़ी आँखों के पलक पसार कर देखा।

मैंने कहा—'यशोधरे, तुमने मेरे मन को बंदी बना लिया है।'

'झूठ !' वह बोली।

'कौन-सा प्रमाण दूँ ?'

'प्रमाण नही चाहिए। उस दिन जब आप प्रतियोगिता में आए, मेरे मन में बड़ा द्वन्द्व था। आप पर बड़ा रोष आ रहा था, प्रतियोगिता के इस पचड़े में क्यो पड़े ?'

'तो क्या तुम्हे स्वयंवर से उठा ले जाता ?'

उसने चुप रह कर कहा—'कंथक मे इतनी गति और शक्ति तो थी।'

'तो यूँही कहो न, कि मेरे साथ कंथक पर बैठ कर हवा में सैर करना चाहती थी। किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं कि हम लोक में अपवाद के पात्र बनें।'

'और यदि देवदत्त जीत गए होते ?'

'तो क्या बुरा था ? कुँअरानी तो तब भी तुम शाक्य-कुल की होती।' मैंने उसके चेहरे को पढना चाहा। एकदम उसका रंग उड़ चला है !

'चलो, हटो !' कह कर वह रूठ गई।

मेरी मनुहार उसने नहीं मानी। इस बीच बादल गड़गड़ाने लगे और नैर्ऋत्य में बिजलियाँ कड़कड़ाने लगी। मेघ और दामिनी के इस गर्जन-तर्जन से यशोधरा डरी जा रही थी। मै उसकी ओर देखता खड़ा रहा।

सहसा वह सिसक-सिसक कर रोने लगी। मैं निकट गया। उसकी पीठ सहला-कर पूछा—'क्या बात है ?' उसने उत्तर न दिया। अपने मान को ऐंठती रही। मैं जानता हूँ यश का स्वभाव बड़ा गर्वीला है। प्रकृति से ही वह मानिनी है।

फिर हाथ में हाथ लेकर पूछा—'कहो, क्या बात है ?'

उसने नजरें उठाईं। कपोल भीग रहे थे। लोचन लाल हो गए थे—'देखते नही, हमें बरखा से भय लग रहा है।'

'तो यह पहले ही कह दिया होता !'

वह दर्प से खडी हो गई—'तुम्हे तो हर चीज कहनी पडती है।'

और मुँह फुलाए, पैर पटकती, वहाँ से अपने कक्ष मे चली गई।

मैं सोचता ही रह गया आखिर मेरा क्या कसूर है ?



[१७]

अभी उठकर भोर पूरब की खिड़की में खड़ी अपनी आँखे मल रही थी कि मैं प्रात. वन्दन के लिए गौतमी माँ के कक्ष में गया। वे अपने निजी प्रकोष्ठ में थीं, इसलिए मै बैठा उनकी प्रतीक्षा करता रहा। जब देर होती देखी, तो मैने उनके संग्रहालय से एक पुस्तक यों ही उठा ली और पृष्ठ जो खुल गया, तो उसमें मैने पढ़ा—

'उसके लिए तुम्हे एक वर्ष प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।' महर्षि अंगिरा ने कहा।

'करूँगा देव !'—महाशाल शुनक के पुत्र शौनक का निश्चय अचल था।

'तो एक वर्ष अखंड ब्रह्मचारी रहो। उसके पश्चात् मेरा पता लगाते रहो, जहाँ मेरा वास हो, वही आ जाना। यदि तुम्हारी साधना सफल होगी तो, अवश्य तुम उस परम तत्त्व को जान सकोगे।'—

इतना कह कर महर्षि अपनी यात्रा पर चल पड़े। शौनक ने साधना के साफल्य-हेतु ब्रह्मचर्य की अविराम आराधना की।

एक एक दिन कर, वर्ष बीत गया !

और एक भोर ब्राह्म मुहूर्त्त में शौनक, अंगिरा मुनि की खोज को चल पड़ा।

समस्त आर्यावर्त्त का पर्यटन कर लेने पर उसे बद्रीवन मे महामुनि का दर्शन हुआ।

किसी को आया जान, ध्यानमग्न मुनि ने तेजवंत लोचन खोल कर देखा—विनीत शौनक सम्मुख खड़ा है—'भगवन् ! आदेशानुरूप सेवक समुपस्थित है।'

'कुछ देर विश्राम करो !'—कहकर, मुनि पुनः ध्यानलीन हुए।

दूसरे प्रभात जब, किरणें कमलों को वरने आई और मलयानिल अधिक मत्त हो बहने लगा तो शिष्य ने निवेदन किया—'महाप्रभु मेरे लिए क्या आज्ञा है ?'

'तुम्हारी साधना सफल हुई। तुम महाशाल शुनक के योग्य पुत्र हो। आज उस परम गोप्य विद्या का ज्ञान-रहस्य पाकर लोक-परलोक को प्रकाशित करो।'

प्रसन्न हो शौनक ने गुरु के चरणों में दण्डवत किया।

और महर्षि अंगिरा कहने लगे —

'वत्स ! विद्या दो प्रकार की, परा और अपरा। अपरा का ज्ञान-लाभ कर तुमने संसार और उसके सुखों का भोग किया है। परा-द्वारा ब्रह्मलोक और अन्त में मोक्ष-प्राप्ति होती है।...'

'धन्य, धन्य गुरुदेव !'

'सौम्य ! तुम्हें जान कर आश्चर्य होगा, वेद-ज्ञान और शास्त्र-पठन से अविद्या का तमस् तिरोहित नहीं होगा। वेद और शास्त्रों के अध्ययन से व्यक्ति जरा-मरण और आधि-व्याधि से अभय नहीं हो सकता। ये लोक-जीवन के उत्थान और ज्ञानार्जित सम्मान के साधन-मात्र हैं। अतः मुमुक्षु शौनक, मेरे मत में वेद-वेदान्त अपरा विद्या के अन्तर्गत हैं।'

'क्षमा हो, पूज्य, वेद तो सृष्टा की वाणी है।'

'इसीलिए उन्नति और ज्ञान के दाता हैं। मात्र ईश-निर्मित होने से कल्याण-दायी नहीं हो सकते। तात, विषधर सर्प और हिंस्र सिंह भी तो परम पुरुष-द्वारा सृजित हैं।'....

शौनक मुस्करा कर रह गया।

'तो वत्स, सम्यक् दृष्टा संयमी ही उस परम तत्त्व का दर्शन कर सकते हैं। वह अतीन्द्रीय है। निराकार, निर्विकार, सद्य, सनातन है। परम सूक्ष्म में स्थित वह देह रहित है। सर्व-व्यापी है और अगोचर भी। जानते हो, पंचभूतों का 'कारण, कर्त्ता, धर्ता, हर्ता' भी वही है। तुम परा-ज्ञान से उस अजर, अविनाशी तत्त्व को जान सकोगे।

'जिनके मन मे कामना है, प्रियदर्शन ! वे ही कर्म-रत हैं। कर्म, फल प्रदान करता है। फल का भोग—हर्ष-विषाद का कारण है। यह तो सांसारिकता है। और सौम्य ! कर्माचरण से पुनर्जन्म होता है। प्राणी बारम्बार विश्व मे भटकता है, यह तो मुक्ति नहीं बन्धनबद्ध अनुरक्ति है। अतएव जो ब्रह्मचारी रह, केवल 'ब्रह्म' मे, अपने चित्त की अविचल स्थायी-स्थिति स्थापित करते हैं वे मरणोपरान्त ब्रह्म-लोक मे जाते हैं। उनका पुनर्जन्म नहीं होता। यह तो कहूँ 'मुक्ति' है।

'और तात, चित्त दे सुनो ! इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं। हैं न ? तो, बहिर्मुख इन्द्रियाँ बहिर् जगत् के वस्तु-विषयो को ही स्वीकारेंगी। अन्तर्लोक में उनका प्रवेश नहीं। हाँ, जब वे अन्तर्मुख होंगी तो उनकी गति और अवस्था परिवर्तित होगी, पर, वत्स परिवर्तन की यह क्रिया स्वाभाविक या आवश्यक तो नहीं,

उसके लिए वड़ा तप करना पड़ता है, साधना करनी पड़ती है, जप-जागरण करना पडता है।

'अन्तर्मुखी होओ और उस अकर्मा-कर्त्ता को जानो। दीर्घायु! जिस भाँति तन्तुवाय-मकड़ी वाह्य आश्रय से रहित रहकर ही अपने तन से अपने जाल फैलाती है, एक चक्र-सृष्टि कर लेती है। फिर इच्छा होने पर उन्हे समेट लेती हैं, तन्तु-समुदाय को अपने में आत्मसात् कर लेती है। पुत्र! उसी प्रकार वह परम तत्त्व सृष्टि करता है और उसे पुनः अपने विराट् रूप में विसर्जित कर लेता है। आत्म-ज्योति उस परमात्म ज्योति मे लय होती है।

'सुभावुक! उर्ध्वगामी साधनालीन साधु उस तत्त्व का प्रतिपल चिन्तन करते हैं। वह तो सर्वत्र विद्यमान् है। उसकी आस्ति तो विश्व का यह अस्तित्व प्रकट कर रहा है। अत. वही ज्ञेय है। सवकी सत्ता, समस्त आलोक, समग्र ज्ञान उसकी झलक मात्र है। वही इनका मूल है, यह तो मै वता चुका हूँ। शौनक, जिस प्रकार शर लक्ष्य का संधान करता है, उस प्रकार, एक चित्त हो अमल अन्त.करण से उसमें तादात्म्य होने के प्रयासी वनो।

'भद्र! वह गगनोमय, मनोमय है। वह नितान्त निरामय है। बुद्धि भी उसकी प्राप्ति का एक साधन है। मिथ्या का त्याग करो। सत्यधारी वनो। चित्त-शुद्धि का नाम तप है। इन्द्रियों को जीतो। इनकी चंचलता आसक्ति की जननी है। निरासक्त वनो। ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करो। कामना ही रखनी है तो सुख-भोग की न रक्खो, उस ज्योति की उपलब्धि की कामना करो।

'पुत्र, अविद्या एवं आसक्ति, मिथ्याचरण एवं सांसारिकता के कारण आत्म-लाभ नही हो सकेगा, इन शत्रुओं पर विजय पाओ। उस तत्त्व के लिए प्रार्थी वनो। प्रार्थना करो और विषय-वासना से मुक्त वनो-यही मुक्ति है। उस शुभ परात्पर, परम तत्त्व को जान कर तुम उसमे लीन हो, 'ब्रह्मरूप' हो जाओगे! जाओ, तात! उसी प्राप्य, उसी काम्य तत्त्व के हेतु तपी वनो! जाओ तात, महाशाल का पवित्र नाम सार्थक करो! जाओ तात, मुक्ति पाओ!'

कथा पढ़कर मैं स्तव्ध रह गया।

मेरे मन में भी उस परम तत्त्व को जानने और पाने की जिज्ञासा उठी और एक पल तो ऐसा लगा जैसे सारा संसार सूना है और मैं उसमें एकदम अकेला हूँ।

तभी, माँ वाहर आईं। इनकी सुन्दर केशराशि से जल की बूँदें चू रही थीं। वे स्नान-गृह से लौटी थीं।

मेरे हाथों ने यह पुस्तक, जिस पर एक ओर लिखा था—उपनिषद, उन्होंने

झपट कर ले ली और ग्रन्थागार पर उसे रख दिया। फिर हैरानी से मेरा मुंह देखती रह गईं—'बेटा, तुम अभी छोटे हो, बड़े हो जाओ तो ऐसे शास्त्र पढ़ना। तुम्हारे तो हँसने-बोलने और खेलने-कूदने के दिन हैं।...और यशोधरा कैसी है? उससे झगड़े तो नहीं?.....'

मैंने मन ही मन कहा—

'आपको क्या मालूम कौन झगड़ता है? माताजी तो बस समझती है, जैसे मैं झगड़ने के लिए ही यशोधरा को ब्याह लाया हूँ। उनका ख्याल है, उनकी बहू बड़ी भोली और भली है पर, उसमें जो मान-गुमान-और गर्व है, उसे माँ कैसे जाने-पहचाने?'

'कैसी है यशोधरा? मैं पूछती हूँ, सुनते नहीं?'

'ठीक है माँ, ठीक है।'—मैंने जल्दी कहा, जल्दी वन्दन किया और वहाँ से भाग चला।

गौतमी माँ मुझे देखती रह गईं?



[१८]

'राम राजा, राम परजा, राम साहुकार है।' एक क्षीण स्त्री-कंठ से निकला यह करुण स्वर मैंने सुना—'वसो नगरी, तपो राजा धरम का उपकार है।'

दिन भर प्रासाद की भारी चहल-पहल से ऊबा मेरा मन शान्ति चाहता था कि कुछ सोच सकूँ। परा और अपरा का ज्ञान प्राप्त करूँ। परा-द्वारा मुक्ति मिलने का जो आश्वासन अंगिरा ने शौनक को दिया था, वह मुझे आकर्षित कर रहा था। मै भी मुक्त होना चाहता हूँ, और लोगों को इस सारे क्लेश और कल्मष से मुक्ति दिलाना चाहता हूँ, यह दारिद्रय, यह वैषम्य, यह अनाचार न रहे। मनुष्य अपने को स्वतंत्र महसूस कर सके। आज वह जो अपराधी की तरह दवा हुआ, झुका हुआ है, सो केवल शोषण और सामाजिक असमानताओं के कारण ही तो ? मै इस आदमी को आजाद करूँगा। मै इससे कहूंगा—'तुम स्वयं अपने स्वामी हो, अपने विधाता हो, अभय होओ। अपनी रचना आप करो, उठकर खडे हो जाओ'...इसलिए कुछ चिन्तन-मनन मैंने आवश्यक माना, ताकि कुछ अपने विपय मे भी विचार कर सकूँ। जो आज तक देखा, उसे समझना हैं।

भोजन-पान और सुरा-संगीत से ऊब कर, और सुन्दरी-समुदाय के कोकिल-कलरव से भाग कर, मेरा मन गहन विजन के एकान्त में झरते, सूने निर्झर का मौनालाप सुनना चाहता था।

आज वलाहक की गति वड़ी मोहिनी थी। मैं अपनी चिन्तना के अदृश्य भाव-लोक मे खोया-खोया-सा था कि, 'राम राजा, राम परजा' गाते, रमणी-कंठ ने मेरा व्यान भंग किया—

"एक कासापन मिले वावा......एक कासापन मिले वावा, कोई...इस पंगु प्राणी को रोटी का टुकड़ा दे अय्य वा।"

राजमार्ग आज भी भारी भीड़ से भरा था। हमारा रथ धीरे-धीरे उद्यान-भूमि की ओर वढ़ रहा था, सो छन्दक से मैंने रथ रुकवाया। रथ जव रुका, तो

मैंने रेशमी तिरस्करणी तनिक हटाकर बाहर देखा—कातापन मांगने वाली उस अभागिन के साथ, अपनी देह को धरती पर घसीटता हुआ एक देहधारी था ! मैं उसे विस्मय से देखता रह गया। वह अस्पष्ट शब्दों में जाने किस वस्तु की याचना कर रहा था।... बड़ा अशुभ और वीभत्स था उसका दर्शन—एक-एक अंगुल वह रेंग रहा था। उसके समस्त शरीर पर सफेद धब्बे और व्रण थे। क्षत-विक्षत उसकी काया से लहू चू रहा था। इसने उसके पीछे-पीछे काले राज-पथ पर एक लाल रेखा बन गई थी ! हजारों मक्खियाँ उस पर भिनभिना रही थी। उसके आँख, नाक, मुँह और कानों के छिद्र मक्खियों के समूह से ढँक कर, अब, केवल काले धब्बे-से दीख रहे थे। दूर-दूर तक हवा में एक घिनौनी दुर्गंध भर गई थी। और उधर से जो राहगीर गुजर रहे थे, वे उसे देख कर अपने नाक पर वस्त्र-छोर लगा लेते थे। और दूर से आती, वार्तामग्न, खिलखिलाती नागरियां अपने अंचल से श्वास रोक लेती थी और उस पशु की ओर, उस अभागिन की ओर दृष्टि डाले बिना, जल्दी-जल्दी पैर उठाती, चली जाती थीं।

'पानी-पानी'—उस जीव की पुकार ने जानेवाली नागरियों में से एक को रोक लिया। उसने आगे बढ़कर उस अभागिन से कहा—' बहन, इसे पानी पिलाओ। बेचारा धूप में तड़प रहा है।"

"मेरे पास पात्र नहीं है।"

"पात्र मैं लाती हूँ"—कहकर वह समीप के आवास में गई और जलपात्र लिए लौटी। मैंने देखा वह पंगु बुभुक्षित की भांति पात्र पर झपटा और सांस रोके, लम्बी जीभ निकाले श्वान की भांति छप्-छप् कर पानी पीने लगा। उसके मुँह से जल की बूँदें और मक्खियाँ एक साथ ही उड़ रही थी।

जलपात्र ले आनेवाली उस किशोरी की सहेलियाँ उसे छोड़ कर आगे बढ़ गईं। जल पिलाने पर वह अकेली रह गई, तो उसने गोधूम के खेत में एकाकी हिरणी की तरह चौंक कर, चतुर्दिक् देखा और अपने को एकाकिनी पा कर वह सहम कर रह गई।

मैंने उसकी यह दशा देख कर कहा—"शुभे, अन्यथा न समझो तो मैं तुम्हें अपने स्थान तक पहुँचा दूँ।"

उसने पहले मुझे सिर से पैर तक देखा, फिर स्वीकृति में सिर हिला दिया। वह आकर रथ में मेरे पास बैठ गई। छन्दक ने उसका पता पूछा और कहा—"चिन्ता न कीजिए, मैं आपको अपने आवास पहुँचा दूँगा।"

रथ चलता रहा।

वह कनखियों से मेरी ओर देख रही थी और यदा कदा सामने जड़े दर्पण में मेरा प्रतिविंव देख लेती थी। मैंने सोचा, इस सुकन्या से कुछ बातचीत न करना अशिष्टता प्रतीत होगी। अनुमान से कहा—"इस नगर मे आप कही दूर से आई हैं ?"

"जी, मै उरुवेला से आई हूँ। यहा मेरा मातुल-गृह है।"

"मेरा नाम सिद्धार्थ है।"

नाम सुनकर वह चौंकी। रथ पर इधर-उधर दृष्टि उड़ा कर उसने पूछा—"आप युवराज सिद्धार्थ तो नही ?"

मैं मुस्करा भर दिया।

वह बोली—"मै वैशाली के नगर-श्रेष्ठी महाशाल धनंजय की बेटी हूँ। मेरा नाम है, सुजाता।"

"आप से मिल कर प्रसन्न हूँ।"

"मैं भी।"

छन्दक बोला—"भद्रे, आपका सुन्दर आवास यही है न ?'

उसने वाहर झाँक कर देखा और छन्दक को धन्यवाद देती हुई नीचे उतरी। फिर मेरी ओर मुस्कराकर उसने हाथ जोड़ लिए—"यदि समय हो, तो आइए न आप हमारे यहाँ ?"

"धन्यवाद", मैंने कहा—"आज तो नही फिर किसी दिन आऊँगा। आप तो अभी रुकेंगी न कपिलवस्तु में ? सुविधा हो तो आइए हमारे आवास। आजकल मैं वर्षा-प्रासाद में हूँ।"

उसने आने का अभिवचन दिया और पुनः नमस्ते कह, मुडकर, विदा हो गई। मैंने उसे अपने मामा के महल की सीढ़ियाँ चढते हुए देखा। जाने क्यों मुझे लगा कि इसमें और यशोधरा मे वड़ी समानता है।

रथ वढ़ा। पर मैंने कहा—"भद्र सारथि ! अव उद्यान जाना रहने दो। प्रासाद लौट चलो।"

रथ लौटकर उसी मार्ग से निकला। मैंने उस पंगु को पुनः देखा और मुझे उबकी आ गई। मेरी अस्वस्थ मनोदशा देखकर छन्दक ने वलाहक की गति वढ़ा दी।

मैंने जव से उस देहधारी को देखा, मेरे मन में न जाने क्या हो रहा था !

ऐसा पुरुष तो मैंने आज ही देखा है। छन्दक से पूछा—"श्रेष्ठ छन्दक, कुमारी सुजाता ने जिसे पानी पिलाया वह पुरुष कौन है?"

छन्दक ने उत्तर नहीं दिया। मैं कुछ देर उसके उत्तर की प्रतीक्षा करता रहा। उसको मौन देख, फिर पूछा—"कहो न छन्ना, यह कौन है?"

"यह रोगी है कुमार।"

"रोगी क्या होता है, आर्य?"

"प्रकृति में विकृति आने से देह-रोग उत्पन्न होते हैं कुमार!"

"इस रोग का अन्त कब होगा छन्दक?"

"कुमार यह असाध्य रोग है, इसका कोई निदान नहीं।"

"तो क्या इस पर मक्खियाँ इसी प्रकार भिनकती रहेंगी? देह से विकार इसी प्रकार बहते रहेंगे और इसके अंग भी क्या यों ही गलते रहेंगे?"

"हाँ कुमार।"

तब, मैं सोचता रहा, यह रोगी है। इसकी आँखें भी दूसरों-जैसी नहीं हैं, इसके नाक-कान भी विचित्र हैं, इसका स्वर भी दूसरों-जैसा नहीं है। लेकिन छन्दक ने यह तो नहीं बताया कि इसका अन्त क्या है? मैंने पुन. उससे पूछा—"सौम्य छन्न, इसके आँख, कान, नाक कहाँ गए? यह पीठ के बल क्यों रेंगता है?"

छन्दक ने वलाहक की पीठ पर हल्का कोड़ा मारते हुए, उत्तर दिया—"यह सब व्याधि का उपद्रव है, कुमार!"

"यदि यह व्याधि-फल है, तो क्या मैं भी व्याधि-धर्मा हूँ?"

छन्दक ने रुकते-रुकते कहा—"हाँ।"

उसकी इस 'हाँ' में, न जान थी, न वज़न था। फिर मैंने पूछा—"अच्य छन्न, क्या व्याधि अनिवार्य है?"

"देव! मैंने कहा तो, आप, हम और सभी प्राणी व्याधि-धर्मा हैं। व्याधि अनिवार्य है।"

मैं विस्मित रह गया। मन में एक नया प्रश्न सुलग उठा! मेरे सम्मुख अपनी रुग्णावस्था का चित्र आया—मेरी प्रकृति बिगड़ गई है। सड़क की उस अभागिन-सी यशोधरा बाल बिखराए पास में खड़ी है .....एक-एक अणुन में रेंग रहा हूँ। समस्त शरीर पर सफेद चित्तियाँ और घाव हैं.....क्षत-विक्षत मेरी काया से लहू चू रहा है। पीछे-पीछे पथ पर रक्त की एक रेखा बन गई है.......इस रेखा का अन्त नहीं, कोई निदान नहीं ......कोई निदान नहीं। 'कुमार! व्याधि अनिवार्य है....'

मैंने अपने दोनों हाथों से कान ढँक लिए और फिर आँखें बन्द कर ली, परन्तु आँखों में अब भी अपनी दुर्दशा घूम रही थी—अपने ही मल-मूत्र मे लिपटा हूँ.... मक्खियाँ भिनभिना रही हैं........अभागिन सहारा दे रही है। राहगीर मुँह छिपाए चले जा रहे हैं। घृणा को भी घृणा आती है। एक किशोर दयावती मुझे पानी पिला रही है........बूँद-बूँद जल कठिनाई से कंठ में उतरता है और उसके साथ मक्खियाँ भीं........'

'नही, नही, नही।'

—मैंने चिल्लाकर कहा। और आँखे खुली। अपने आस-पास देखा। नही, मैं तो रुग्ण नही हूँ। मै तो सिद्धार्थ हूँ सिद्धार्थ! मुझ में विकृति कहाँ?

रथ रुका पड़ा था। छन्दक पास में खड़ा था। मेरा हाथ उसके हाथ में था—"कुमार, तुम्हारे मन को आघात लगा है?"

"नही छन्दक, अब मैं ठीक हूँ। रथ अन्त पुर लौटा ले चलो।"

"अच्छा देव, मगर आप स्वस्थ तो हैं?"

"मैं ठीक हूँ छन्दक, कह जो दिया....इस जन्म लेने को धिक्कार है........... चलाओ रथ........"

"कुमार को क्या हुआ है?"—छन्दक व्यथित हो उठा।

"कुछ नही छन्न, घबराओ नही। अब चलो।"

छन्दक ने कहा—"जो आज्ञा देव।"

रथ लौट कर चलने लगा।

—मैं रुग्णावस्था को मिटा दूँगा।" मैंने मन ही मन कहा।

"यशोधरे! यशोधरे! कहाँ हो? सुनो तो, आज मैंने एक व्याधि-पीड़ित रोगी देखा। मै रोग को मिटा दूँगा यशोधरे! मै इसका निदान खोजूँगा।"

"आप व्यथित हैं नाथ, विश्राम कीजिए।"

"इस जन्म लेने को धिक्कार है सुअंगे! जन्मे हुए को जरा सताती है, व्याधि पीड़ित करती है, जन्मने पर प्राणी वृद्ध होता है और आज तो मैंने स्वय अपनी आँखों देखा, वह बीमार भी होता है!"........

"मनुष्य को सब कुछ होता है देव, पाषाणों को कुछ नही होता। आइए, इधर बैठिए, जल पीजिए।"

"तुम्हे मालूम है, सुन्दरि, रुग्णावस्था सबके लिए है। मनुष्य व्याधि-धर्मा है। आज सांध्य-वेला उद्यान-भूमि जाते, मैंने एक पंगु प्राणी देखा। उसका वर्णन जो

न करूँ तो ठीक है. ..ओ....ओ.. .ओ....मुझे वमन हो जाएगा देवी, दूर हटो। एक अभागिन उस रोगी के साथ थी, राम राजा, राम परजा चीख-चीख कर वह धर्म और दया की दुहाई दे रही थी। यशोधरे....यशवाला....कहाँ हो तुम ? अरे, तुम तो यहीं खड़ी हो, मेरा मुंह क्या देखती हो, यही न ? मैं रुग्ण हूँ... मेरा नाक गल रहा है, मेरी आँखें .मेरी आँखें और मेरे कान कहाँ गए, रानी. ..?

"भिषक् क्या करेगा मेरा ? उसके पास मेरी व्याधि का उपचार नहीं... इधर बैठो देवपुत्रि ! मैं तुम्हें सारा भेद बतलाता हूँ...मनुष्य जिस प्रकार वृद्ध हो जाता है, उस प्रकार बीमार भी हो सकता है। मैं....यशोधरे, रुग्णावस्था को मिटा दूँगा। मैं जरा और व्याधि का निदान खोज लाऊँगा....मैं जाऊँगा.... मैं जाऊँगा। इस जन्म लेने को धिक्कार है....यह बार-बार, विश्राम-विश्राम क्या कहती हो ? मैं ठीक हूँ, बिल्कुल ठीक हूँ। तुम जरा पास तो बैठो। तुम्हें सारा रहस्य बता दूँगा।"

यशोधरा, मेरे पास पर्यंक पर बैठ गई। एक हाथ से वह मेरे केश सहलाने लगी। मैं कुछ शांत हुआ। शैवालिका जल लाई। मैंने जलपात्र देख यशोधरा से कहा—"ठीक ऐसे ही पात्र से उस पंगु को पानी पिला रही थी वह, उसका नाम सुजाता है, सुजाता।"

"कौन, सुजाता ?"

"वह उरुवेला से आई है यहाँ।"

यशोधरा की भौंहों में बल पड गए। मैं उसकी मनस्थिति परख गया— "अरे रे, तुम कुछ और समझ गईं। छि – छि !"

"अपराध क्षमा हो देव !"

"अपराध तुम्हारा नहीं, सामाजिक अवस्था का है यश, जिसके विधान में बँधी हमारी नारी, इतनी बेबस है कि उसे सदैव अपनी पद-मर्यादा और अपने अस्तित्व की चिन्ता बनी रहती है। वह परावलम्बिनी है। हमारे पुरुषों ने उसे पग-रक्षिका भी तो नहीं माना।"

"नाथ का कथन यथार्थ है।"

फिर मुझे स्वस्थ जान वह बोली—"स्वामि ! आहार-वेला है, चलिए न, देर हो जाएगी। और हमारे पीछे हमारे कारण बेचारे ये सेवक भी भूखे रहेंगे।"

"हाँ, हाँ, यश ! वह रोगी अंगुलीरहित मुट्ठियों से रोटी के टुकड़े अपने ओष्ठहीन मुह में ठूंस रहा था।

"अब छोड़िए न, अधिक कुछ कहूँगी तो रुष्ट हो जाएँगे।"—हाथ पकड़कर मुझे उठाती हुई वह कहने लगी—"उठिए, हमें भूख लगी है।"

मैं खड़ा हो गया और पाकशाला की ओर बढ़ते हुए मैंने सोचा: यशोधरा, तुम्हारा नहीं, तुम्हारे वर्ग का दोष है यह, तुम्हें अपनी ही भूख की फिक्र है। अपनी ही रोटी की चिन्ता है। तुम्हारा भी यह रोग असाध्य है।.... मेरे कंधे पर अपना सिर झुकाए, अपनी देह का भार मेरी बाँह पर झुलाए, वह चल रही थी।

पाकशाला के द्वार पर वह मुझे रोककर बोली—"सिद्धार्थ, तुम्हारे रोगी की रामायण में उलझकर मैं एक शुभ-संवाद भूल गई। आज मेरी एक सहेली आई हैं। उसके सम्मान में हमने नृत्य और संगीत का आयोजन किया है। तुम आओगे न सिद्धार्थ?"

यशोधरा जब बड़े दुलार में आती, या मुझसे 'हाँ' कहलाना होता, तब वह मुझे सिद्धार्थ कह कर पुकारती। पर मुझे भय था कि किसी दिन प्रजापति देवी ने इसके मुंह से 'सिद्धार्थ' सुन लिया तो?

नृत्य का आयोजन धर्म-प्रासाद में किया गया था। यशोधरा के लिए महाराज ने यह महल बनवाया था। इसका नाम बदलकर यश ने 'पारिजात' रख दिया था।

पारिजात सभी सुविधाओं से परिपूर्ण था। उसके प्रशस्त अजिर में ताल और महाताल थे। इन तालो के बीच, सौ-सौ धनुष पर चार रंगों की ईंटो की पुष्करणियाँ बनी थी। उनमे चारों दिशाओं में चार रङ्गों की चार-चार सीढियाँ थी। इन सीढ़ियों में से प्रत्येक के नीचे चार रङ्ग के चार-चार आधार-स्तम्भ थे। जिस रंग की सीढी थी उसी रंग के आधार और छत आदि थे। पुष्करणियाँ दो-दो वेदिकाओ से संयुक्त थी। और उनमे भाँति-भाँति के उत्पल खिले हुए थे।

जब एक दिन महाराज प्रधान विश्वकर्मा और उसके साथियो का काम देखने के लिए आए तो उन्होंने बन्धुमान् से पूछा कि इन पुष्करणियों पर नियुक्त सेविकाएँ कहाँ हैं? उस समय यहाँ सेविकाएँ नही थी। महाराज ने मेरे श्वसुर-गृह से आई कुछ सेविकाओं को, यशोधरा की सम्मति से यहाँ नियुक्त किया। ताकि वे अन्त.पुर की रानियों को नहलाने का कार्य करें। इनमें कोलिय, लिच्छवि, वज्जी, मागध, शाक्य, आवन्तिक आदि जनपदों की चुनी हुई दासियाँ थी। बारी-बारी से वे पारिजात के विविध स्थानों पर सेवा करती थी। पुष्करणियो की बाई ओर, जहाँ पर कणिकार-कुञ्ज का आरम्भ होता है, वहाँ एक सुन्दर आपान-गृह बना था। उसमें विविध रसों के फव्वारे बने थे। जिनकी कल दबाते ही आसव के उत्स बड़े वेग से झरने लगते।

इन पुष्करणियो और कुञ्ज-निकुञ्जों के मध्य में था पारिजात। पूर्व से पश्चिम तक लम्बाई में एक योजन, और उत्तर से दक्षिण तक चौड़ाई मे आधा योजन था। यह भी चार रंगो की ईंटो से निर्मित था। रंगों के क्रम से ईंटे लगी थी। एक गिजका सोने की, एक चाँदी की, एक वैदूर्य की और एक स्फटिक की।

उत्तमश्लोक महाराज ने पारिजात का नक्शा स्वयं अपनी देखरेख में बनवाया था। इसकी छवि-विभूति अमरालय से निश्चित ही अधिक आकर्षक थी। पारिजात के अत्युत्तुङ्ग गुम्बद पर स्वर्ण-कलश शोभित था। जिस पर शाक्यों का कुलकेतु फहराता था। प्रासाद का अलिन्द-छत चौरासी हज़ार खम्भो के आधार पर स्थित था। महल के अधिष्ठान और प्रकोष्ठो की संख्या चौरासी हज़ार थी और इनका क्रम भी रंगों के अनुसार था। एक कोठा सोने का, एक चाँदी का, एक वैदूर्य का और एक स्फटिक का। सोने के कोठे में चाँदी के पलंग बिछे थे। चाँदी के प्रकोष्ठ में कंचन-पर्यंक थे। वैदूर्य-कक्ष में हस्तिदन्त के पलग और स्फटिक की कोठरियो में मसारगल्ल की सेजे बिछी थी। इन कोठो के द्वार भी विविध रग की चित्रावलि से अंकित थे। स्वर्ण-कक्ष के द्वार पर रुपहरे ताल-वृक्ष अंकित थे, जिनमें बहुरङ्गी पत्र, पुष्प और फल साकार और सजीव प्रतीत होते थे।

पारिजात घुंघरू के जालो से घिरा था। ये जाल भी सोने और चांदी के थे। सोने के जाल में चाँदी की घण्टियाँ थी और चांदी के जाल में सोने की घण्टियाँ थी। जब अलबेली हवाएँ इठलाती हुई आती तो, उनकी अलको की लहरो से जाल हिलने लगते और घण्टियो से सुन्दर रागोत्पादक स्वर निकलता था। राजमार्ग से गुजरते समय, प्रासाद पर दृष्टि डालने पर, आंख नही ठहरती थी। जिस प्रकार वर्षांतक मास में शरदागमन पर मेघरहित अंबर में उर्ध्वगामी सूर्य पर आँखे नही ठहरती, उस प्रकार था पारिजात का दर्शन!

हमारे निजी अन्त.पुरो के अतिरिक्त, शेष आवास, अधिष्ठान, और अधस्तल सुन्दरियो से भरे थे। ये सुन्दरियाँ सर्वथा अनामय थी और अनग-क्रीडा से सदैव प्रमत्ता रहती। इनकी संख्या सोलह सहस्र थी, इस अप्रमेय पारिजात महल के सुरक्षित अन्त गृहो में ये अगणित अक्षतयौवना, अदत्ता रमणियां सभी देश और द्वीपों से लाई गई थी। इनमे एक सौ आठ प्रमुख रमणी-रत्न भी थीं।

अपनी शेष सम्पदा और जायदाद की भांति उस काल के पुरुष ने स्त्री को भी अपनी जायदाद माना था। उसकी दृष्टि में वह जड़, अचेतन और निरी भोग्या थी! पारिजात की ये एक सौ आठ सुदर्शना, सुन्दरियां, सकाम पुरुषो की दृष्टि में अभिरूप, दर्शनीय एवं आह्लाददायिनी थी। परम सौन्दर्यशालिनी थी वे। न अधिक लम्बी, न अधिक नाटी थी। न अधिक दुबली, न अधिक मोटी थी। न

बहुत गोरी, न बहुत काली थी। मानवीय वर्ण से बढ़कर उनका वर्ण था। मैंने उनका स्पर्श जाना है—मानो तूल या कपास का फाहा हो, वैसा कायसंस्पर्श था उनका। उनके अंगों से चन्दन की सुगन्धि आती थी और मुँह से कमल की बास निकलती थी। वे हमारे उठने से पहले ही, उठ जाती थी पर सोने के पीछे सोती थी। आज्ञा सुनने को सदैव तत्पर रहती थी। मनानुकूल आचरण करने वाली, चित्त को प्रसन्न और प्रतुष्ट करने वाली प्रियभाषिणी थी वे। तन-मन से पारिजात के प्रति समर्पिता थी।

आज मै सोचता हूँ इन कान्ताओं की दशा पर, तो मन में जाने कैसी ग्लानि अपने ही प्रति उठती है। काम के अनुचर उन परिजन और कुल-पुरुषों को क्या कहूँ, नारी के नग्न भोग में ही, जिन्होंने जीवन का आदि-अन्त केन्द्रित किया था। नारी, जो मुक्ति की मशाल थी, उसे उन्होंने आशीश बुझाकर अपना ही मार्ग अन्धकारमय बना लिया था।

तो, आज इसी पारिजात में यशोधरादेवी की ओर से सुरस-रस का आयोजन था।

मैंने स्वयं यशोधरा और कृशा गौतमी के नृत्य देखे हैं, नाग-नृत्य में यशोधरा और मयूर-नृत्य में कृशा गौतमी की बराबरी करनेवाली कुलकन्या दूसरी नही देखी। लेकिन, इस रात उनका नृत्य भी न जम सका, जब श्रेष्ठी-कन्या सुजाता ने अपना हंस-नृत्य दिखाया—

तुषोदक की प्यालियाँ ढल रही थी। आवन्तिकाएँ अपनी रस संचारिणी कटि पर मदिरा-मणिका रखे, मनुहारें कर रही थी। आसवी कुल कन्याएँ इतस्ततः डोल रही थी। उनकी रतनारी आँखों में वासना के बेले फूट रहे थे। तभी, पश्चिम द्वार की तिरस्करणी हटाकर यशोधरा के साथ सुजाता ने प्रवेश किया। उसके स्वागत में कही से आलापिनी बज उठी। उसके बाद मुरज, मृदंग, वेणु और अन्यान्य वाद्य बज उठे। पिष्टातक और गुलाल से यशोधरा और सुजाता के भाल और कपोल लाल थे। दोनों की आँखो में हल्का नशा था। क्योंकि उनके पैर कुट्टिम पर सीधे नही पड़ रहे थे और वे एक दूसरे का सहारा लिए थी। फिर भी सुजाता की तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु यशोधरा अवश्य सोम के प्रभाव में थी। इन कोलिय कन्याओं और कान्ताओं का सबसे बड़ा दुर्गुण और कमजोरी है कि वे किसी भी पेय का आकर्षण अपने में नही रोक पाती।

आम्रपाली के बाद सुजाता की बारी थी। वह बहुत ही महीन अंशुक पहने थी, जिनमें उसकी देह, पंखुरियो के बीच पराग-सी प्रतिबिम्बित थी। प्रकाश की

गोद में दीप-बाती-सी झिलमिला रही थी। उसके घुंघराले केश दो चोटियों में विभक्त थे। इन चोटियो के छोर पर श्वेत पुष्पों के गुच्छे बँधे थे। आनन्दसम्मोहिता राजहंसिनी की उसकी भूमिका थी।....आज भी एक झलक तो स्मृति में है—प्रथमत. उसने मन्द्रगति से पद परिचालन किया। फिर बाहुमूलों तक उसी गति से, उँगलियों से लेकर बाहुओं तक—सभी अंगों का प्रकम्पन दिखाया।....

सुजाता के इस वशीकरण को सभी मूर्तिवत् देख रहे थे। यशोधरा अलसाई-सी मेरे स्कंध पर अपना सिर टिकाए थी और आज तो वह अपनी इस आली के आगमन पर इस प्रकार व्यस्त रही कि अपने केशों की सज्जा का भी उसे अवसर न मिला, सो उसके शीतल केश मेरे वक्ष तक गिर कर फैल गए थे।....

हंस-गति पर सुजाता ने चाल बदली और देह की शक्ति नितम्बो में समेटे अभिनव परिचालन उसने दिखाया। अब वह कभी दाहिना, कभी बायाँ पैर आगे-पीछे बढा कर, ढीला छोड़ देती और पैरो की उँगलियो को क्रमश: नचाती। तब, फुदककर, झटका देकर नाचती। बाँहो को कमल के डंठल की लचक और नरमी देकर झुलाती। फिर त्वरित पदचालन उसने दिखलाया—उसका अंग-प्रत्यंग गोल-गोल-गोल घूम रहा था। वेणियाँ-चोटियाँ और उनके छोर बंधे फूंदे दूर-दूर तक, गोलाकार लहरा रहे थे। इसी प्रकार उसने कटि और वक्षोजों का नर्त्तन प्रदर्शित किया। झीनी ओढनी में उसकी देह की रेखाएँ दीखती थी। दर्शिकाएं तालियाँ बजा रही थीं।

फिर नाचते-नाचते उसने अपनी पीठ दर्शको की ओर की। तबले पर थाप पर थाप पड़ रही थी और कुट्टिम पर वह अपना पैर पर पैर पटक रही थी। उसकी कटि झटके पर झटके खा रही थी। उसने अजलिबद्ध होकर सामने मुँह किया। उपस्थित आलियो ने फिर तालियो से उसका अभिनन्दन किया।

झूम-झूम कर वह नाचने लगी।

अब केवल घूँघरू छमछमा रहे थे। और वह इस पल, रगमंच के इस कोने में, और उस पल, उस कोने में बिजली की तरह चचला बन, मटक रही थी।...

सुजाता के बाद यशोधरा ने गिरग्ग-समज्जा में भाग लिया। उसने सिंह-नृत्य दिखलाना चाहा, परन्तु उसका नर्त्तन जमा नही। जब वह लौटी, मैंने उसके कानों में कहा—'तुम्हारे पैर तो आज यों ही सिंह-नृत्य दिखला रहे है, समज्जा में भाग लेने की जरूरत क्या थी?'

सुजाता ने यह सुन लिया और वह यशोधरा को गुदगुदाने लगी। रात काफी बीत चुकी थी, इसलिए हम अपने-अपने शयन-कक्षो में लौटे।

मुझे नींद नहीं आई। मन में प्रतिपल लाख-लाख विचार उठ रहे थे। अंगिरा और शौनक की कथा से लेकर सुजाता तक सारी, छायाएँ एक-एक मेरे सामने आ-जा रही थी। मुझे पहली बार प्रतीत हुआ कि मै बहुत सुखी हूँ। यशोधरा निद्रा में खोई, मेरे पास लेटी थी। उसकी अलके उसके कपोलों को ढँकती हुई ग्रीवा में लिपट कर, वक्ष तक फैली थी........फिर, मुझे महसूस हुआ, मन क्यों अवसन्न और भरा-भरा है........कुछ समझ नहीं आ रहा था, कुछ समझ नहीं पा रहा था। विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, देवकन्या तो लेटी है मेरी शैया पर, फिर मेरी कौन-सी कामना है, जो अवशिष्ट रह कर भटक रही है। संध्या से लेकर मध्यरात्रि तक के आनन्दोल्लास के पश्चात् रस की खुमारी होनी चाहिए, पर यह अवसाद कहाँ से घुमड़ आया !

मैंने यशोधरा की ओर देखा। वह उसी मुद्रा और भंगिमा में सोई थी। उसकी एक बाँह मेरे सिरहाने थी और दूसरी पर्यंक के एक ओर कुछ नीचे लटक रही थी। वह चित्त लेटी थी। उसके घुँघराले केश वैसे ही, ग्रीवा और कंधों से लिपटे थे। भाल की बेंदी देह की ऊष्मा से पिघल चली थी और कानों के कर्णफूलों में कपोलों की परछाइयाँ प्रतिबिम्बित हो रही थी। कर्णफूलों से ऊपर अपनी अलकों मे जो फूल उसने खोंस लिए थे वे अब सेज पर इधर-उधर बिखर गए थे। और कुछ तो बेचारे कुचल गए थे। घनसार और केसर पराग अर्चित यशोधरा के वक्षोजों पर उसका हीरक हार दो हिमशृंगों के बीच चन्द्रमा सा लग रहा था। उसके अधर ताम्बुल की तरल लालिमा से रंजित थे और मद्य की तेज़ी मे अब भी फड़क रहे थे। इसी कारण, उसके मुकुलित नेत्र भी भारी लग रहे थे और बन्द पलको पर धनुपांगी बरौनियाँ फैली-फैली लगती थी। यह सब कुछ है......

यह सब कुछ है, परन्तु मन में फिर भी यह प्यास कैसी ? देह की भोग-तृप्ति के लिए अमित उपलब्धियाँ हैं फिर भी मन को चैन नहीं। और आज तो नीद भी जाने कहाँ चली गई ? यशोधरा की ओर टकटकी लगाए मैं देख रहा था। अलक्ष्य, दूर कहीं से चक्रवाक का क्रंदन सुना। और फिर तो जैसे वह क्रंदन मुझे घेर कर घहराने लगा। यशोधरा के बन्द लोचनों से मुझे आँसू झरते नजर आए। साफ़ देखा, वह हिचकियाँ ले रही है। नही, नही......यह तो स्वस्थ, सकाम सो रही है......नही रो रही है यह ! फिर कौन रो रहा है, यह चीख-पुकार कैसी ? यह हाय-हाय किसकी ? एक प्रश्न उठा—तुम मुझे भूल गए ? ओह, तुम भी उन राहगीरों-से हो, जो अनदेखे गुजर जाते हैं। तुम्हे अपने रस और विलास से मतलब, हम चाहे जीयें, मरें !........

मैंने देखा, चौंक कर देखा, यशोधरा की देह विकृत हो रही है। अब तो उसकी जगह 'राम राजा, राम परजा' वाला वह रुग्ण कोढ़ी पड़ा है.... ...मैं उछल कर शैया छोड़ कर खड़ा रह गया ! भय, कल्पना, चिन्ता, वेदना और व्यग्रतावश मेरा शरीर काँप रहा था. ....सचमुच, वह देखो वह कोढ़ी ही यशोधरा मेरी सेज पर लेटी है... . ..

मैं जोर से चिल्लाया—'यशोधरा, यशोधरे, तुम्हें यह क्या हो गया ?'

मेरा चीत्कार दिशाओं के गालों पर थप्पड़ मार कर लौट आया और प्रासाद भर में प्रतिध्वनित होने लगा—'यशोधरे, तुम कहाँ हो ?'

सब लोग जाग गए। शैवालिका और अन्य दासियाँ दौड़ कर आईं। उनके केश, परिवेश अस्तव्यस्त थे। आकर मुझे सँभाला। 'देव, उद्विग्न क्यों हैं? देवी यशोधरा तो यह लेटी हैं।'

"नहीं, नहीं। वह तो रोगी है, जिसे मैंने नायपाल उद्यान-भूमि जाते देखा था। तुम झूठ बोलती हो। वह . . उसके हाथों मुँह से जलपान लगा है... लप् लप् जल पी रहा है। अभी-अभी मेरी ओर घूर कर देख रहा था, शैवालिके! कहता था—कुमार, तुम सुन्दरियों के सम्मोहन में, सुरा के संगम में, नृत्यों के समारोह में मुझे भूल गए? ह हा हा ! परन्तु मैं तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ूँगा ! तुम मेरे प्रति अपराधी हो। मेरे लिए तुम्हारे पास कोई निदान नहीं? तो तुम्हारा जीवन व्यर्थ है। ठहरो, मैं तुमसे प्रतिशोध लूँगा. ......

सेविकाएँ मुझे थामे थीं।

शैवालिका बोली—'कुमार, क्या बात है? कौन-सा रोगी? यह रहीं यशोधरा जी। शान्त होइए।'

मैंने देखा, सचमुच यशोधरा है। उसकी आँखों में नींद उलझी थी और वहीं खुमारियाँ तैर रही थीं। कुछ परेशान सी वह अटपटी वाणी में बोली—'सिद्धार्थ, अभी तुमने उस रोगी का पीछा नहीं छोड़ा? चलो, सो जाएँ। तुम्हें दूसरों का कुछ ख्याल नहीं। सारी दुनिया सो रही है और तुम हो कि यों सबको हैरान कर रहे हो। अभी सो जाओ, कल चले जाना अपने उस रोगी देवता को देखने। चलो हमें नींद आ रही है।'

यशोधरा मेरी देह सहलाती रही और कहने को मुझे नींद आ गई। धीरे-धीरे वह भी सो गई।

अचानक जैसे किसी ने मुझे हाथ पकड़ कर झकझोर दिया। 'ओह!' मेरे मुँह से निकला—रोगी के साथ वाली दरिद्र अनाथिनी थी। उसने अपने अधरों पर उँगली रख कर चुप रहने का संकेत किया। मैं चुपचाप खड़ा रहा। उसी

परछाई धीमे-धीमे तिरोहित हो गई, केवल एक आवाज़ आती रही—'सब व्याधि-धर्मा हैं। रोग और जरा सबके लिए हैं। इधर आओ…… .इधर आओ।' मैं सीढियाँ उतर कर, उस आवाज़ के पीछे पीछे, नीचे आया।

विशाल आलय में नर्त्तकियाँ थक कर इधर-उधर लेटी थी। सुजाता के स्वागत में भाग लेने वाली वे सुन्दर नर्तकियाँ! दशा उनकी देख-देख कर मै हैरान था! उनकी घघरियाँ और ओढ़नियाँ बिखरी हुई थी। नाक से पानी और मुँह से लार टपक कर उशीपों पर बह रहा था। एक अजानी गंध कक्ष में फैली थी। जिस मानव देह के, देवों और कवियों ने इतने गीत गाए, वह मेरे सम्मुख अपनी समस्त रुग्णता लिए प्रदर्शित थी। इसी गंदगी को छिपाने के लिए चन्दन और मेंहदी है। इसी दुर्गंध को दबाने के हेतु शृंगार और प्रसाधन हैं। निद्रा में मेरी भी यही गति होती होगी। मैं भी व्याधि-धर्मा हूँ।

राजमार्ग पर देखा रोगी मुझे चिढ़ा रहा था। उसके साथ की अभागिन स्त्री व्यंग्यपूर्वक मुझ पर हँस रही थी। उसकी कर्कश हँसी और कक्ष के वीभत्स वातावरण से त्राण पाने के लिए मैं अपने आवास में आया। यशोधरा पर्यंक पर बैठी ऊँघ रही थी। नीद उचटने पर, मुझे न पाकर वह दुखी थी। उसे देखते ही मैंने पुकार कर कहा—'यशोधरे, मैं जरा विहीन-यौवन और रोग रहित-जीवन की तलाश में जाऊँगा। पारिजात प्रासाद की इन सीमाओं मे रहा, तो यही मेरी समाधि बन जाएगी।'

'हाय-हाय, ऐसा अशुभ न बोलो।' दाहिने हाथ से, मुख पर आ गए अपने केशो को उलट कर कुँवरानी बोली।

तकिये में मुंह छिपाए मैं औंधा पड़ा रहा। थकान और तन्द्रा से अभिभूत था, फिर भी इतना भान था—

मेरी पीठ पर सिर रखे-लेटी यश की आँखों से अश्रु झर रहे हैं और आकाश से तारे झर रहे हैं।



[१६]

पारिजात के एक निकुंज में मैं बैठा था । यशोधरा प्रजापति-माँ की पूजा के के लिए फूल चुन रही थी । एक-एक पौधे और वल्लरी को वह पहले गौर से देखती, फिर कलियों को बड़ी देर देखते रहने के बाद उन्हें वह तोड़ लेती।

मैं उसे देख रहा था । मैंने वासन्ती को भी फूल तोड़ते देखा है । कितनी त्वरा और लगन से वह फूल तोड़ती है, काँटों को छू लेती है और उछल कर ऊँची-से-ऊँची डाल के फूल को अपनी डलिया में पा लेती है । इसके विपरीत है यशोधरा ! काँटों से उसे घृणा है । जब वह पुष्प-चयन के लिए चलती है तो, पीछे-पीछे सेविकाओं के समूह चलते हैं । कहीं रानीजी को कुछ हो गया तो ? यह वैषम्य कब दूर होगा ?

एक ओर अपाहिज मानवी को कोई पानी पिलाने वाला नहीं, दूसरी ओर प्यास लगने से पहले ही, अलिजर उठाए परिचारिकाएँ प्रतीक्षा किए रहती हैं । उधर पंगु हो जाने पर भी कोई पूछता नहीं, इधर काँटा लगने के पहले आँख में आँसू आते हैं और औषधि लिए सेविकाएँ साथ चलती हैं।

मैं इस विषमता को दूर करूँगा । मैं मनुष्य-जीवन में प्रविष्ट कृत्रिमता को मिटा दूंगा। मैंने कहा—

"देवि ! फूलों से इतना मोह है, तो काँटों से न डरो । फूल और काँटे एक ही चीज़ के दो छोर हैं, एक ही अवस्था के दो पहलू हैं।"

"यह तो मैं भी जानती हूँ। लेकिन संसार में दो तरह के लोग होते हैं, कुछ को फूलों से प्यार है, कुछ को काँटे पसन्द । यह तो अपना-अपना स्वभाव है। चाहें, तो आपके लिए कुछ बढ़िया काँटे चुन लाऊँ ?" और वह खिलखिला कर हँस दी । इस लीला में उसे अपने सन्तुलन का ध्यान न रहा और उसके आँचल के फूल धरती पर बिखर गए। सहेलियाँ दौड़ कर उन्हें चुनने लगीं।

"यशोधरे, देखो-देखो यह कितनी कितनी सुन्दर है !"

"देखा, इससे भी सुन्दर तितलियाँ होती हैं। किसी का ध्यान न जाए उधर, तो कसूर किसका कहे ?"

"लेकिन बाग़ों की तितलियाँ, राहों की तितलियो से अलग होती हैं।"

"हाँ, यह तो दृष्टि का फेर है।"

"दृष्टि का फेर है, तभी न अपने पैरों में साँप तुम्हे नही दीख रहा है।"

"साँऽऽप।" और वह उछल पड़ी—"झूठे छलिया, हमें डरा दिया।"

"इतनी वडी हुई अब भी डरती हो ?"

"कितनी वड़ी हुई ?" यश ने विस्मय से कहा—"अभी तो हमे सोलहवाँ भी पूरा नही हुआ।"

"तो जल्दी पूरा कर लो उसे। हमारा भार टले।"

"तो हम आप पर भार हैं ?" उसने तुनक कर कहा।

"ओह, इतनी जल्द विगड़ गई ? मैं तो चुहल कर रहा था।"

"हमें नही अच्छी लगती ऐसी चुहल।"—यश ने कृत्रिम रोष से कहा।

"तुम्हे तो अपने आप से ही डर लगता है, अब इसका क्या इलाज ?"

"अरे बाप, किस का इलाज, कौन बीमार है ?" पूछती माँ ने प्रवेश किया। उधर वे जा रही थी कि उनके कानों पर शब्द पड़े।

यशोधरा ने माँ के पैर छुए। लेकिन उसका अनमनोपन माँ की अनुभवी दृष्टि से छिपा न रहा। उन्होने गौर से, बारी-बारी से हम दोनों को देखते हुए पूछा—"क्या बात है सिद्धार्थ ! वहू आज यों मौन-मौन क्यों है ?"

"शक्ल ही ऐसी है माँ !"—मैंने तो सहज ही कहा, पर यश इस वार को झेल न सकी। माँ के कंधे पर सिर रख कर फूट-फूट कर रोने लगी।

और लो इस छोकरी ने माँ के सम्मुख मुझे अकारण ही अपराधी वना दिया !

माँ कुछ देर उसे समझाती रही। यशोधरा की आँखों में छद्म आँसू और होठो पर प्रच्छन्न हँसी थी, सो माँ उसे पहेली-सी बूझती रही। और तव स्वय मुस्कराती, मन ही मन हमें असीसती, अपने फूल लिए चली गई।

मैंने यशोधरा को अपनी गोद में विठा लिया—"अभी तुम्हारा वचपन नही गया। माँ क्या समझी होंगी मन में ?"

"यही न, आपने हमें परेशान किया।"

"तो, अच्छी बात है ?"

"अच्छी नहीं, पर सच्ची तो है।"

"और अपनी चपलता को कभी तोलती हो ? यशोधरे, नही जानती, तुम्हे

मैं कितना प्यार करता हूँ ! क्वाँरेपन में तुम्हें एक बार.......याद है, मेरे होंठ अभी भी जल रहे हैं।"

यश ने सुना और—'हट' कह कर चली।

मैंने उसकी सतरंगी चूनर का छोर पकड़ लिया—"देवबाला, और तुम्हारे अवदात कपोलों पर वह चिह्न मैं अब भी देख रहा हूँ।"

"आप स्वप्न देख रहे हैं।"

"हाँ, यह वह स्वप्न है, जो यथार्थ हो गया है।"

"छलिया !"

"मानिनी !"

बडी देर तक हम एक-दूसरे की आँखों में एक-दूसरे को देखते रहे।

यशोधरा बोली—"देखिए, वह मेंढक आपकी तितली को खा गया।"

"वह देखो, सर् सर्, सचमुच साँप है, अब वह इस मेंढक को खा जाएगा।"

"यह सब क्या है ?"—यशोधरा की आँखें विस्मय का रस पीकर और भी सुन्दर हो गई थी।

"यही तो मैं सोचा करता हूँ। हिंसा का अन्त नहीं। एक के पीछे एक भक्षक लगा हुआ है।"

"देखिए, साँप का मुंह खुला हुआ है, उसने मेंढक को उदरस्थ कर लिया है।"

"वह, सुन्दर पंखी आया।"

"अब यह मोर इस साँप को भी खा जाएगा।"

"दुनिया मे यही हो रहा है। बडा छोटे को खाता है, छोटा अपने से छोटे को खाता है। यदि सबको जीवन-यापन की समान सुविधाएँ, अवसर और सुरक्षा मिले, तो बडो के द्वारा छोटो का डसा जाना बद हो जाए।"

"लेकिन समाज अपनी परम्परा पर चलता है, सपनो से नहीं।'

"यशोधरे, स्वप्नो से विधान बनते हैं और कालान्तर में विधान ही परम्परा बन जाते हैं।"

"तुम्हे सपने अच्छे लगते हैं, मुझे परम्परा प्रिय है।"

"तुम परम्परा में पली हो।"

"और आप ?"

"मै तुम्हारा स्वप्न देख कर बड़ा हुआ हूँ यशोधरे ! तुम्हारे अस्तित्व ने मेरे जीवन को नई दिशा दी है। तुम्हारी प्राप्ति पर मेरी कोई कामना शेष नहीं रही।"

"यह देव का अनुग्रह है।"

"बस यशोधरे, तुममें एक ही कमी है।"

"वह क्या ?" उसने सदर्प पूछा ।

"तुममें मान बहुत है । तुम्हारा स्वाभिमान अभिमान की सीमाओं पर चला गया है ।"

"होगा ! मैं तो नहीं देखती ।"

"चाँद अपना कलंक नही देखता ।"

"फिर भी वह चाँद है ।"

"यही तो तुम्हारा गर्व है ।"

"गर्व है ? गर्व की ऊष्मा से व्यक्ति जीवित रहता है ।"

"यह भ्रम है, विनय का अमृत ही जीवन है ।"

यशोधरा अपने आपे मे न रही । पैर पटक कर बोली—"तो, क्या आपकी मर्ज़ी है, मै किसी की दासी बन जाऊँ ?"

"यह तो मैने नही कहा ।"

"कह देते, तो अच्छा था ।"—फिर उसने आँचल आँखों से लगाया ।

"तुम समझी नही ।"

"सब समझती हूँ मै ।"—और जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाती वह एक ओर चली गई ।

मैं वही बैठा रहा—

धीरे-धीरे मुझे यह प्रतीत होने लगा कि मेरे और यशोधरा के स्वभाव में अन्तर है । वह उत्तर ध्रुव पर है । मै दक्षिण ध्रुव पर हूँ । कसूर उसका नही । उसका लालन-पालन ही ऐसे वातावरण में हुआ है । वहाँ सेवा करना नही, सेवा लेना सिखलाया जाता है, और यदि सेवा में तनिक भी त्रुटि हुई तो दासों की देह से चमड़ी अलग खीच लेना सिखलाया जाता है । जिनकी एड़ी पर ज़रा-सा काँटा लगने पर समूचे साम्राज्य में हलचल मच जाती है, ऐसी राजरानियाँ अपनी सहेलियों के बीच हँसते-हँसते, आदमी को जिन्दा गड़वा देती हैं । ऐसी परम्परा में पली इस कोलिय-कन्या की प्रकृति में तुनक-मुनक हो तो विस्मय की बात नही ।

यशोधरा को मान की भंगिमा इतनी प्रिय रही कि धीरे-धीरे वह स्वयं मानिनी बन गई । बालापन से ही नृत्य और नाट्य-समज्जा में उसका भाग रहा है, उसमें वह इतनी डूबी कि शाक्य-साम्राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी घोषित किए जाने पर ही उसे चैन आया । परन्तु मनुष्य के मन की लालसा का अन्त कहाँ ?

यशोधरा को सहस्रों दास-दासियों और सहेलियों के बीच चलने में मजा आता है, इससे उसके अहं की पूर्ति होती है। यों उसका मान बढ़ता जा रहा है और वह दिन-दिन अधिक मानिनी बनती जा रही है, और उस पर भी प्रजापति-माँ का लाड़ उसे जाने कहाँ ले जाएगा ! मैं नहीं जानता।

मैं सोचता रहा—नारी को समझना कितना कठिन है ! अजीब पहेली है यह ! ज्यों-ज्यों सुलझाता हूँ, त्यों-त्यों उलझती जाती है। एक ओर से सुलझती है, दूसरी ओर से स्वयमेव उलझती जाती है....

फिर भी नारी—नारी है। समस्त संसार इसके सामने तुच्छ और छोटा मालूम पड़ता है।

नरों की जननी, तुझे प्रणाम है।



[२०]

"सौम्य छन्दक, यानों को जुड़वाओ। सुभूमि देखे दिन हो गए।" छन्ना से कहा था। मुझे ज्यो का त्यो याद है—

वसंत आया है। डाल-डाल और पत्ते-पत्ते ने सिंगार किया है। विदेश से घर लौटे पिया को पाकर, जिस प्रकार कामिनी फूल उठती है, उस प्रकार माधव-कुसुमाकर के आने पर वाटिकाएँ उल्लसित हैं। समस्त जनपदों में विलास की वातियाँ जल रही हैं। और उनके प्रकाश में रस के समारोह चल रहे हैं। क्योंकि वसंत आया है....

नृत्य और गीत हवा की लहरियों पर थिरक उठे। कंठ से निकल कर स्वर के पंछी दिशाओं में उड़ाने भरने लगे। कांताओं और कोकिलाओं के स्वर का विभेद कठिन था। रासव्रतियों का अंग-अंग सुवास से वसा था, जैसे मंजरियाँ महक रही हों।

छन्दक लौट कर आया—'आज्ञा हो देव, सुन्दर यान जुत गए। अब जिसका देव काल समझते हो।'

'उद्यान-भूमि चलो।'

रथ चला जा रहा था। मार्ग में मैंने कई लोगों को एकत्र देखा। वे नाना प्रकार के नए वस्त्रों से एक शिविका बना रहे थे। मैं आर्य छन्दक से कुछ पूछूँ-पूछूँ, तब तक मेरे कान पर स्वर आया—'सत्य काम सत्य है, राम नाम सत्य है।'

मैंने रथ से वाहर देखा। पथ पर अनतिदूर ही, वे खड़े थे। पहले व्यक्ति के वचन शेष लोगों ने दुहराए। और जोर का स्वर उठा—'राम नाम सत्य है, राम नाम सत्य है।'...

यह सब देख-सुन कर, मैंने सारथी से पूछा—'भद्र सारथि! यहाँ बहुत-से लोग एकत्र होकर यह शिविका क्यों बना रहे हैं?'

छन्दक चुपचाप मौन बैठा रहा। मैं जान गया, इनके उत्तर की राह में कोई राजाज्ञा बाधक बन रही है। तब मैंने एक पथिक को पास बुला कर पूछा—'भद्र नागरिक ! कहो तो, यह शिविका क्यों बनाई जा रही है ?'

'यह शिविका नहीं अर्थी है।'

'अर्थी क्या होती आर्य ?'

'इतना भी नही जानते, इस पर मृतक को श्मशान ले जाया जाता है।'

'मृतक क्या वस्तु है आर्य ?'

'किसी कुलपति के बिगड़ैल बेटे मालूम पड़ते हो ! मनुष्य जन्मता है, यौवन और जरा आते हैं। फिर एक दिन ऐसा भी आता है, जब वह जन्मा प्राणी संसार मे नहीं रहता, मर जाता है, तब उनकी देह को शव, और उसे मृतक कहते हैं।'

'और यह श्मशान क्या बला है ?'

'श्मशान भूमि, उद्यान भूमि के विपरीत स्थल का नाम है। तुमने रंग भूमि देखी है, श्मशान भूमि भी देखो। रग भूमि पर मनुष्य हँसता है, श्मशान भूमि पर रोता है। सारी दुनिया—हमारे पूर्वज और अग्रज श्मशान भूमि में समा जाते है।'

'वहाँ वे क्या करते हैं ?'

'मुर्दे कुछ करते हैं ? भोले हो !'

'तो छन्दक, रथ उधर ले चलो, मै मृतक देखूँगा।'

'अच्छा देव !' कह कर सारथी छन्ना जहाँ वह शव रखा था, वहीं मुझे ले गया।

पारिवारिक जन सिर धुन कर रो रहे हैं। स्त्रियाँ बाल नोच रही हैं, और लड़के चीख रहे हैं।

'छन्दक, यह मरना क्या चीज है ?'

'देव, मरना मरना है और क्या ? न जीने का नाम मरना है। तब कुटुम्बी मिल कर मृतक के शव का दाह करते हैं, जिसे अग्नि-संस्कार कहते है।'

'अग्नि-संस्कार से क्या इस मृतक को पीड़ा नहीं होगी ?'

'देव, वह मर गया है। मृतक के मन-मस्तिष्क नही होता। उसकी हृदय-गति रुक गई है। अब उसके माता-पिता या ज्ञाति-जन उसे नही देख सकेंगे, और इसी प्रकार वह भी अपने सम्बन्धियों को नही देख सकेगा।'

'तो छन्दक, इसका कोई निदान नहीं ?'

'नही कुमार !'

'होगा एसा, तुम्हे ज्ञात नही।'

'सम्भव है।' छन्दक बोला। और मैं सोचता रहा—'मैं मृत्यु का निदान खोजूंगा। मैं उस लोक को, उस अवस्था को धरती पर लाऊँगा, जिसे पाकर आदमी मरेगा नही।'

मैंने मृतक के एक परिजन से पूछा—'यह तो मर गया, अब तुम क्यों रोते हो?'

'मै इसलिए रोता हूँ कि एक दिन मैं भी मर जाऊँगा। तुमने श्मशान भूमि, नही देखी क्या? जहाँ जाकर कोई लौटता नहीं, जहाँ एक दिन सब को जाना है। काल सब को खा जाता है। अपने ही परिजन हमारी देह मे आग लगा देते हैं....... मै विस्मयपूर्वक, नागरिक की बात सुनता रहा—'और इस बलिष्ठ देह की अस्थियाँ ऐसे जलती हैं, जैसे पुराना काठ और सुन्दरियों के कजरारे केश ग्रीष्म की सूखी घास की तरह भस्म हो जाते हैं। और एक दिन ये जलानेवाले-जन भी जल जाते हैं। जो आया है, सो जाएगा। जो जन्मा है, सो मरेगा—यह कालदेवल का अंतिम कथन है। देखो, यह कालदेवल आजन्म मृत्यु से लड़ता रहा, पर आज मृत्यु इसे भी डस गई। संसार मे मृत्यु की भूख, सब से बड़ी भूख है।'

तब साश्चर्य छन्ना ने उस भद्र नागरिक से पूछा—'श्रेष्ठ, यह मृतक देह क्या कालदेवल का है?'

'हाँ, सारथीराज!'

'कालदेवल तो परम भट्टारक महाराज का मित्र था। आज महाराज के मन को बड़ी ठेस पहुँचेगी।'

तब मैंने प्रश्न किया—'छन्दक, तो क्या मैं भी मरण-धर्मा हूँ? क्या मृत्यु अनिवार्य है?'

'हाँ कुमार!' छन्दक का स्वर उदास ओर भारी था।

'भद्र छन्ना! क्या मुझे भी देव, देवी और यशोधरा नही देख सकेंगे? और क्या मै भी उन्हें नही देख सकूंगा?'

'नही देख सकेंगे युवराज!'

'तो क्या छन्दक, एक दिन तुम्हारा भी 'राम नाम सत्य' हो जाएगा?'

'हाँ कुमार!' छन्दक ने रोते हुए कहा।

'भले आदमी रोते क्यों हो? अभी तो वह दिन नही आया!'

'नही आया।' छन्दक ने आँसू पोछते हुए दुहराया।

'आर्य छन्न, क्या महाराज भी एक दिन मर जाएँगे? क्या अपने मित्र कालदेवल की तरह वे भी नही रहेंगे?'

'राम, राम! ऐसा न कहिए कुमार! महाराज की जय हो, महाराज महस्रायु हो!'

'फिर भी, सहस्त्र वर्ष जिस पल पूरे हो जाएँगे, उसके दूसरे पल तो उनका भी 'रामनाम सत्य' हो जाएगा।'

'यह कल्पना भी अशुभ है।'

'जो अनिवार्य है, वह अशुभ नहीं।......और सौम्य छन्दक, क्या यशोवरा भी एक दिन चली जाएगी...क्या उनका भी 'रामनाम सत्य' हो जाएगा ?.... श्मशान भूमि में उनके भी केश-कलाप घास-फूस की तरह जल जाएँगे, छन्दक ?'

'हाँ !'

'तब तो उनका सारा गर्व भी खर्व हो जाएगा। सारा मान-मर्दन हो जाएगा ?'

'हाँ !'

'यह तो बड़ी अच्छी बात है, कि मृत्यु गर्वितों का गुमान भंग कर देती है।'

'अब चलिए कुमार ! काल बीता जा रहा है।'

'परन्तु रीता नहीं जा रहा है। वह अपनी गति के प्रत्येक पल के साथ हमारी सृष्टि के एक-एक प्राणी को, नहीं, लाख-लाख लोगों को लेता जा रहा है। ..... लेकिन छन्दक, कुछ तो ऐसे भी लोग होंगे, जिन्हें काल नहीं खाता होगा ? ये बड़े-बड़े तिलकधारी ब्राह्मण, ये मोटे-मोटे श्रेष्ठी, ये अभिमानी आभिजात्य, ये रूपगर्विता कुलकुमारियाँ इनसे तो काल दूर रहता होगा ? या काल इनका भी लिहाज़ नहीं करता ? क्या काल के कोश में 'अपवाद' जैसा कोई शब्द नहीं ?'

'नहीं, केवल राम नाम ही एकमात्र शरण है।'

'लेकिन छन्न ! तुम्हारे राम को भी तो, काल ने ग्रास बना लिया। बड़ा विचित्र है यह विश्व ! प्रत्येक प्राणी और पदार्थ के देहाकार पर अदृश्य लिपि और शब्दों में, 'राम नाम सत्य' लिखा है.... क्यों, मनुष्य उसे फिर भी पढ़ता क्यों नहीं ?'

'अदृष्ट जो है यह लिपि-संकेत ! मनुष्य मरणशील है, परन्तु फिर भी उस आर्य सत्य को भूला हुआ है।'

'और छन्दक !'

'कहिए नाथ !'

'बस, एक बात और बताओ, मर कर आदमी किधर जाता है ?'

'स्वर्ग या नरक को।'

'कितनी दूर है यहाँ से स्वर्ग-नरक ? तुमने देखा है वह स्थान ? वहाँ से कोई

भीड़ होगी ? कल्प-कल्पान्तरों से सभी प्राणी वहाँ जा रहे हैं।'

'नहीं, मनुष्य पुन. जन्म भी लेता है।'

'पुन.जन्म लेता है !'—मुझे विचित्र लगा। पूछा—'तो फिर मरा किसलिए ? यह व्यर्थ परिजनों को रुलाया किसलिए ? क्यों छन्दक, जरा कल्पना करो, मैं मर जाऊँ तो माँ प्रजापति का क्या हाल होगा ? वे तो रो-रो कर प्राण दे देंगी और यशोधरा, वह तो यो ही चौंकती है ! मेरे जीवित होते भी रोती है तो मरने पर तो और अधिक रोएगी—है न छन्ना ?'

'अब नुभूमि चलें कुमार, वेला हो गई।' छन्ना बेचारा ऊब चला था। मेरे साथ जो रहे, वही ऊब जाए !

'छन्दक, इस मरण-वरण की चर्चा से मेरा भी मन बेमन हो गया है। अच्छा होगा, हम लौट जाएँ।'

'जो आज्ञा कुमार !'

राजरथ लौटकर दौड़ने लगा। कालदेवल के उस शव से, उस अर्थी से दूर, विपरीत दिशा और दशा में हम दौड़ रहे थे। परंतु जब सब मरण-धर्मा हैं, तो बचकर कहाँ जाएँगे !

मेरे कानो में अब भी 'राम नाम सत्य है' का रुदन स्वर गूंज रहा था और बार-बार मृतक के निकट बाल बिखराए बिसूरती और पृथ्वी पर सिर पटकती उस महिला का चित्र मेरी नजरों में चमक जाता था। मैंने कुछ डर कर, कुछ संकोच से पूछा—'सारथि ! मृतक कालदेवल के अति निकट वह कौन बेचारी सिर पीट रही थी ? इतना और बता दो !'

'वह उसकी बहन भद्रा थी, कुमार!'

'अच्छा !........सचमुच, संसार में बड़ा दुख छाया है रे छन्दक ! ससार असार है।'

पारिजात के निकट हम आ गए थे। छन्दक अब किसी नई दुर्घटना में उलझना नहीं चाहता था, इसलिए रथ को वेगपूर्वक लिए जा रहा था। आज रथ में बलाहक के स्थान पर दूसरा अश्व था। और उसके पीछे छ नये अश्व थे, मार्ग की भीड़ देखकर ये भागते थे।

मेरे मस्तिष्क मे जैसे मृत्यु का महाचक्र चल रहा था। सब को एक दिन काल खा जाएगा। सब प्राणी मर जाएँगे, तो इस जीवन से क्या लाभ ? तो इस जीवन का क्या उद्देश्य ? ये बड़े-बड़े साम्राज्य, ये भीम भयंकर संगर, ये सिंह-नाद

और ये षड्यन्त्र, शोषण के ये काले कारनामे : सब यों ही धरा रह जाएगा और इस दुःखमय संसार से मनुष्य अकेला लौट जाएगा। जिन सम्राटों के आगे-पीछे अक्षौहिणियाँ चलती हैं, उन्हें राजकीय श्मशान-घाट में अकेला छोड़ दिया जाएगा। जिन अन्तःपुरों में मध्यरात्रि के ढलते प्रहरों तक सुरा और सुर का अबाध प्रवाह बहता है, उनमें रहनेवाली रानियों की समाधियों के आसपास रातों-रातों श्वान भूकेंगे और उलूक रोएँगे—यही होगा उनका वन्दन-अभिनन्दन।

दस-सहस्र हाथियों और योद्धाओं का बल रखनेवाले ये महारथी मृत्यु के एक थप्पड़ में चित हो जाएँगे, तब इनके मुँह पर मक्खियाँ भिनभिनाएँगी। जिन कामागिनी जनपद-कल्याणियों के रूप की ज्वाल में भस्म होने के लिए आज भरत-खण्ड के तरुणों के दल के दल दौड़ते हैं, जिनके एक आलिंगन के लिए बड़े-बड़े साम्राज्य-वासना की वेदी पर वराटिका की भाँति फेंक दिए जाते हैं, उन सुन्दरियों के मरण पर जब उनकी देह अपनी प्रकृति छोड़ देगी, कोई दो दिन उनके शव को अपने घर में रखना नहीं चाहेगा। कोई राजकुमार या श्रेष्ठिपुत्र उसकी ओर देखने तक के लिए तैयार न होगा।

ये अम्बरचुम्बी सौध-सदन ये रागिनियों से गुंजित, रसभरे शयन-कक्ष एक दिन सूने हो जाएँगे और समय आएगा जब इनकी नींव लगाने वालों को भी काल खा जाएगा। और नींवे भी समय पाकर काल का ग्रास बन जाएँगी। मागधीय महलों के छज्जे, गान्धारियों के गोल गुम्बद और आवन्तिकाओं की उत्फुल्ल अटारियाँ—सूखे ढेले-सी ढह जाएँगी।....

छन्दक, रथ जल्दी चलाओ....छन्दक ऐसा न हो कि कहीं इन मदमाते अश्वों का काल आ गया हो और मार्ग मध्य में ही ये धोखा दे दें।...कहीं छन्ना तुम्हारा ही राम नाम सत्य न हो जाए!...और मुझे पैदल घर जाना पड़े। रोते हो छन्ना....अपनी दशा पर रोते हो, या मेरी दशा पर? जो सत्य है, उससे भय कैसा?...

'रहने दो....रहने दो!

आलिंगन रहने दो, मेरी यह पूजा रहने दो यशोधरे! मैं कोई भगवान् नहीं।...देवता नहीं...मैं तो एक साधारण मरणशील मानव हूँ।'

'देव को फिर क्या हो गया है आज? शैवाली, यह थाल उधर रख दे... अरे आपका तो शरीर तप रहा है...कितनी गरमी है, बाहर न जाइए।... शैवाली मेरा मुँह क्या देखती है? वह शैया इधर खींच दे। आप लेट जाइए नाथ!'

'एक दिन सब को लेटना है। एक दिन ऐसा लेटूँगा कि फिर नींद नहीं खुलेगी।'

'आप लेट तो जाइए।'

'हाँ...हाँ, तुम पास बैठो! तुम्हे एक राज़ बताता हूँ। तुमने कभी 'राम नाम सत्य' सुना है? तुमने भरत-खण्ड के सभी श्रेष्ठ स्वर-सिद्धों के मधुर गीत सुने, परन्तु उनसे भी मधुर और जितना मधुर उतना ही क्रूर गीत तुमने सुना है कभी? राम नाम सत्य है!....देवि! आज सायंकाल सुभूमि जा रहा था कि मैंने उस महाबली, प्रचण्ड प्रकोपी कालदेवल का शव देखा। उसकी बहन भद्रा उसकी अर्थी के पास सिर धुनती रो रही थी। और देवि, वहीं मुझे एक नागरिक ने बताया—सबको मरना है। जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा। यह कालदेवल आजन्म मौत को चकमा देता रहा परन्तु, आज मौत ने उसे ऐसा चकमा दिया कि, चारो खाने चित्त पड़ा है! और अब तक तो उसके सम्बन्धियों ने उसे फूँक दिया होगा....यशोधरे, मैं सोचता हूँ एक दिन परम भट्टारक भी अपने मित्र कालदेवल की तरह, मौत के काले पञ्जे के शिकार होंगे। सारा कपिलवस्तु श्मशान में बस जाएगा। मखमली सेजों पर लेटनेवाले, काठ की चिताओं पर लेटेंगे। यह सत्य कितना भयंकर है कुँवरानी? और मैं भी मर जाऊँगा।'

'नहीं. ..नहीं, ऐसे बोल मुँह से न निकालो मेरे प्राण!'—यशोधरा ने मेरे मुख पर अपना हाथ रख दिया—'ईश्वर उसके पहले मुझे उठाले।'

'और तुम, मानो या न मानो यशोधरे, तुम्हारा यह गर्भस्थ शिशु भी एक दिन काल का कवल बनेगा। यह सत्य है, ध्रुव सत्य है।'

यशोधरा मेरे इस कथन को सह न सकी। शैवालिका ने उसे सँभाल लिया, अन्यथा वह गिर जाती। मैंने कहा—'तुम्हीं तो कहती थीं, जो अवश्यम्भावी है, उसका क्या शोक और क्या संताप देव! और आज तुम्हीं यों धीरज खो रही हो?'

'नाथ, राम का नाम तो सब लेते हैं, परन्तु समय-असमय देखे बिना ही 'राम नाम सत्य' कोई नहीं कहता!'

'किन्तु देवि, क्या राम नाम सत्य नहीं है?'

'यह सत्य है, लेकिन कटु-क्रूर सत्य है। और सभ्य-समाज में कटु-सत्य कहना अव्यावहारिकता है।'

'कटु सत्य कहे बिना श्रोता की आँखें नहीं खुलतीं। यदि यह सत्य है कि

एक दिन मैं न रहूँगा और तुम्हारे इस सुमधुर गोरे भाल का सौभाग्य-तिलक पुँछ जाएगा, तो इसमें घबराने-जैसी क्या बात है ?'

'मैं घबराती नहीं। लेकिन अपने प्रियजनों के लिए अशुभ सुन भी नहीं सकती। जिसका विचार मात्र पाप है, उसका कथन और श्रवण तो महापाप है।'

'तुम कुलीनों की पाप-पुण्य की परिभाषाएँ विचित्र हैं ! अपने स्वार्थ को तुम लोग पुण्य कह कर बखानते हो और जो अपने हित के विपरीत जाता है, उसे तुम असामाजिक और महापाप बताते हो। अपनी मौत से तुम भयभीत होते हो, परन्तु तुमने समस्त निर्लज्जतापूर्वक, बड़ी बेरहमी से कपिलवस्तु के राजमार्गों पर अपने भगवान के बेटे को मरने के लिए नगा छोड दिया है।... और मैं कहूँगा—उनकी नग्नता—तुम्हारी अपनी नग्नता है। उन भिखमगो की भूख पुकार-पुकार कर जतला रही है कि तुम्हारे वर्ग की सर्व ग्रासिनी क्षुधा कितनी भयंकर है ! तुमने अधिक खाया, तुमने उनका ग्रास भी छीन लिया, तभी त वह नंगा, भूखा, निराश्रय भटक रहा है बाजारों में ! 'एक कानापन दो बाबा, एक रोटी का टुकड़ा दो।'—धिक्कार है तुमको। इस अनाचार का प्रतिशोध लिया जाएगा। तुम जिसे काल कहते हो, वह और कुछ नहीं, जन-जन के अन्तर की ज्वाल है। वह तुम्हे भस्म कर देगी। विश्वास करो, जिस दिन ससार में स्वार्थ नहीं रह जाएगा, उस दिन मृत्यु भी न रह जाएगी। मृत्यु इस लिए आती है कि वह तुम्हे, ठोकर मार कर सिखलाए—उठो, बहुत लिया अब कुछ देकर जाओ।....प्रिये, घबराओ नहीं, मैं तुम्हारे पास बैठा हूँ। मेरा अपराध क्षमा करो। मेरी मनस्थिति को देखो-परखो। अब तुम्हारा जी कैसा है ?'

यशोवरा बाहर से जितनी सुकुमारी है, भीतर से उतनी सहनशील और अचपल भी है। कहने लगी—'भय और घबराहट-जैसी बात नहीं। सिर्फ इतना ही कि अपने प्रिय का अभाव दुखदायी होता है।'

'सारा ससार दुखदायी है यशोधरे ! प्रियो का वियोग दुख है तो अप्रियों का सयोग भी दुख है। जन्म भी दुख है, जरा भी दुख है। व्याधि भी दुख है, मरण भी दुख है। यहाँ सब कुछ तो दुखमय है !'

'स्वामि, विश्वास न कीजिएगा ! आपको मेरी शपथ, अब जो जी को अधि-दुख दिया।'

'सुख-दुख का विचार कल्पनामात्र है। सब माया है। सब दुख है। इच्छा करने पर किसी पदार्थ का न मिलना, दुख है। मुझे लगता है सारे भौतिक-अभौतिक पदार्थ दुख है। तृष्णा और तृप्ति दोनो दुख हैं।'

'फिर सुख क्या है देव ?'

'सुख क्या है—यही तो मैं भी सोच रहा हूँ। हाँ, हाँ....सुख वह है, जिसमे मनुष्य को जन्म न लेना पड़े। जिसमें जरा, मरण, आधि-व्याधि और कामनाएँ न हों। मेरा अनुमान है, वही सुख होगा। मैं उस सुख को खोज लाना चाहता हूँ। मैं उस मरणहीन जीवन को पा लेना चाहता हूँ, न केवल अपने लिए किन्तु, समग्र सृष्टि के लिए।....

'देवि, मैं वह दिन लाना चाहता हूँ—जब मनुष्य को यों बार-बार जीना-मरना न पड़े। यों दुखी न होना पड़े। एक का दुख सब का दुख हो, और एक का सुख सब का सुख हो। मैं समता के उस समाज की कल्पना और रचना चाहता हूँ। और उसे धरती पर लाना ही पड़ेगा, मैं उसे लेने जाऊँगा। यदि मैं न ला सका, तो कोई बात नहीं, दूसरा मानव-पुत्र अवश्य लाएगा। मनुष्य अपने सुनहरे भविष्य के लिए निरन्तर लड़ता रहेगा।....

'वह इसलिए लड़ेगा सुलोचने, कि अपनी विजय मे उसे विश्वास है।'

देवी कुछ न बोली।



[२१]

पिछले दिनो जो घटनाएँ हुई थी, उनके कारण मेरा मन बहुत खिन्न हो चुका था और चित्त दिग्भ्रम में भौंरे की भांति भटक रहा था। माया के मृग-जल के पीछे मनुष्य कैसा भाग रहा है, देख-देख कर मै चकित था। संसार में कितना अनन्त दुख और परिताप छाया है, और उनके समक्ष उनके उन्मूलन के निमित्त मानवीय प्रयत्न कितना छोटा और अकिंचन है। अब तो प्रत्येक जन-जन को उठना होगा। हमारी यह लडाई साधारण लडाई न होगी, शताब्दियो तक यह चलेगी और शत-शत संततियाँ इसमे भाग लेंगी। हमें अपनी हार नए अनुभव सिखलाएगी और विजय के मूल्य को हमारे सामने स्पष्ट कर, हमें नए परीक्षण और पराक्रम के अवसर प्रदान करेगी। ताकि कोई यह न कहे कि, मनुष्य निर्ममता का विष पान कर मर गया। मनुष्य ने प्रकृति से पराजय पाई। वसुधा वीरों के विक्रम से विहीन है, यह कोई न कह सकेगा।

अब मै मनुष्य के ज्योतित भविष्य को अच्छी तरह देख पा-रहा था। मुझे यह महसूस हुआ कि दुनिया उतनी ही नही है, जितनी या जैसे हम उसे जानते हैं, हमारे पूर्वज, हमारे ज्ञानी और हमारे आचार्य, जो कुछ जानते हैं, कहते हैं वह तो सिन्धु के एक बिन्दु से उतना ही छोटा है, जितना बिन्दु सिन्धु से। ज्ञान अनन्त है। ध्यान अनन्त है। सिद्धि अनन्त है। तो, यह मनुष्य भी अनन्त है। इन सबसे अनन्त है और जो कुछ भौतिक-अभौतिक अनन्त है, वह सब मनुष्य के लिए है, सबके समान उपयोग और उपभोग के लिए है, सब के समान योग और भोग के लिए है। मुझे लगता था, एक दिन आएगा, जब मनुष्य स्वत्व का परित्याग कर देगा—सर्वजन हित के लिए, सर्वजन सुख के लिए।

यह सारे रोग, शोक, दुख, दारिद्र्य, अत्याचार, संताप, अशान्तिजनित हैं। मनुष्य का 'स्व' इनकी मूल उपाधि है। यही 'स्व' इनका जनक है और मनुष्य का वैरी है।

मैं इस अत्याचार की जड़ को ढूँढूगा। मैं सर्व के हित-हेतु अकिंचन साम्य

को लाऊँगा। तब दुख निःशेष होगा। और यदि रह भी गया, तो इतना कम होगा कि सब उसे बाँट लें और उस समाज में सुख इतना अधिक होगा कि बाँटे न बँटेगा। और तब मनुष्य को एक ही बात की शिकायत रह जाएगी कि मेरे पास दूसरे से अधिक सुख है, इसे मैं कैसे, क्यों कर दूसरे को दे सकता हूँ? हरेक प्राणी को अपने सुख का बोध इसी प्रकार होगा। निश्चय ही तब जीवन अमृत बन जाएगा। मैं उस अमृत को धरती पर लाऊँगा। मैं नए मनुष्य का निर्माण करूँगा। उस मनुष्य को अपने विश्व-परिवार और अभिनव सम समाज की सृष्टि रचना में निरत, निमग्न देख, मेरा मन पुलकित हो जाएगा।

धरती पर वह आलोक कब उतरेगा?

पिताजी को जब यह ज्ञात हो गया कि मैंने पिछले वर्षों न केवल वृद्ध और रोगी ही देखा है, वरन् एक मृतक भी देखा है। और वह मृतक भी दूसरा कोई नही उनका परम सखा कालदेवल था, तो उनके संताप की सीमा न रही।

महाराज के कई दिवस अत्यन्त उद्विग्नावस्था मे व्यतीत हुए। मंत्रीजन अलग चिन्तित थे। वे सब मुझे महल की चहार दीवारी मे बन्द रख सकते थे। पर भला मेरे मन को कैसे बाँध सकते थे? कालदेवल का कथन सत्य था कि सम्राट् शुद्धोधन के पास ऐसी तलवार नही जिससे वह विपक्षी के मन को काट डाले या उसे विजित कर, बन्दी बनाकर ले आए, तो मैं सोचता रहा क्यों न इस मानव-मन को किसी प्रकार वश में किया जाए! क्यों न, ऐसा उपाय खोजा जाए कि मनुष्य का मन बदला जा सके। यदि ऐसा हो सका, तो हम नरों की यह जीत तलवारों की जीत से, हथियारों की जीत से बहुत बड़ी जीत होगी और लोक में कहानी चल जाएगी, कि कपिलवस्तु के शाक्य राजा के कुल में एक ऐसा भी दीवाना पैदा हुआ था, जिसने जरा को कभी स्वीकार नही किया, जिसने मरण को कभी स्वीकार नही किया। उसने कहा, जरा हमारा धर्म नही, मरण हमारी परम्परा नही, हार हमारी रीति नही।... और मुझे प्रतीत हुआ— सिद्धार्थ इसके लिए तुम्हे सबसे लड़ना पडेगा। अपने स्वप्न को संसार भर में सबके निमित्त प्रकाशित देखने के लिए तुम्हे शायद सर्वस्व का बलिदान देना होगा। अरे.. अरे सब छूट जाएँगे।....अकेले रह जाओगे सिद्धार्थ, अपने समर में अकेले रह जाओगे। समस्त उच्च वर्ग उनकी संगठित शक्तियाँ, उनके ज्ञान-विज्ञान, अस्त्र-शस्त्र सब तुम पर एक साथ अचूक वार करेंगे। परन्तु तुम्हारी राह यह साबित कर देगी कि मनुष्य का पराक्रम परिधियों में नही बाँधा जा सकता। उसके ज्ञान के दीप को नही बुझाया जा सकता!

देखना है, क्या होता है !

समाचार लाने में शैवालिका पवन-पुत्र से कम नहीं। महाराज ने, मेरे वृद्ध देखने पर, पहरा बढाकर एक योजन कर दिया था। रोगी की बात यशोधरा ने जब उन्हें बता दी और मेरी सारी शिकायतें उनके सामने रख दी तो, पहरा बढकर दो योजन हो गया। और प्रहरियों की संख्या तो लाख के आस-पास आ गई। पिछले वर्ष कालदेवल की मृत्यु और उसकी बहन का क्रंदन मैंने देखा और इसका समाचार महाराज ने जाना तो, उनके शोक और क्रोध की सीमा न रही। मुझे समझ में नहीं आता, मुझे बाँध रखने के लिए, कितने प्रहरियों को अपने प्राणों से विदा लेनी पड़ेगी। मेरे मार्ग में आ जाने वाले, किसी भी अनपेक्षित, अकाम्य को मृत्यु-दण्ड मिलता है और मेरी सुरक्षा का उत्तरदायित्व जिन पर होता है, उनकी दुर्गति की तो कहना ही क्या, सहस्रों की संख्या में पथ के उन प्रहरियों और अगरक्षकों को काल के कराल कुण्ड में झोंक दिया जाता है !

इन घटनाओं के कई वर्ष उपरान्त, मुझे ज्ञात हुआ कि उद्यान-भूमि जाते समय मेरे मार्ग में वृद्ध भिखारी और पंगु कोढ़ी को लाना देवदत्त का षड्यन्त्र था। उसे कालदेवल की भविष्यवाणी और कौंडिन्य का कथन अपने गुप्तचरों से ज्ञात हो गया था, और वह जानता था कि यदि मैं घर छोड़कर बेघर हो जाऊँ तो, लोक में मेरा अपवाद फैलेगा और मेरे राज्य-परित्याग पर वह सिंहासन का उत्तराधिकारी बन जाएगा। मैं तो इसमें उसका और उसके तथाकथित साथी देवों का उपकार ही मानूँगा। क्योंकि इस प्रकार वे मेरे ज्ञान-विज्ञान और मेरी अन्तर्-चेतना के निमित्त-कारण जुटा रहे थे।

बेचारों ने कितना परिश्रम किया। हमारे विपक्षियों की समस्त अभिसंधियाँ हमारे हित के लिए होती हैं। उनके अशुभ को हम अपने शुभ से धो देंगे।



[२२]

मुझे एक दिन मालूम हुआ कि रोहिणी के किनारे, जो आम्र-वन है, वहाँ एक विचित्र व्यक्ति आया है। छन्दक ने वताया, वह निर्ग्रंथ सन्यासी है। संसार का अपना सव कुछ छोड़ चुका है। अकेला विचरता है, और अकेला एकान्त में रहता है। मेरे मन को वड़ी ललक-लालसा लगी कि उसके दर्शन करूँ। मैं जानना चाहता था कि क्या वह भी मेरी तरह सर्वजन-सुख के लिए पागल वना हुआ है। आखिर उसका कहना क्या है, उसके विचार कैसे हैं। दुनिया को वह किस दशा में देखना चाहता है?

विगत वर्षों मे चुपके-चुपके, जिन पंडितो से मिला, छिप-छिप कर मैंने जितने वेद-वेदान्त, ज्ञान-ग्रन्थ पढ़े उनसे मेरा परितोष न हुआ। मेरे मन की जिज्ञासा को राहत न मिली। वह तो अव भी वैसी ही विभ्रान्त, अनजानी, उदास और प्यासी भटक रही थी, जैसी पहले दिन। या, और भी उसकी प्यास और लगन वढ गई थी।

यशोधरा थी नहीं। वह अपने मायके गयी थी। सिमंतिनी थी। मैंने देखा, अच्छा अवसर हाथ लगा है, रोहिणी-तटवाले संन्यासी से मिला जाए। शैवालिका कहती थी कि वह वडी देर तक उपस्थित लोगों को उपदेश भी देते हैं। शुभ अवसर है। उस दिन, पहली वार मुझे यशोधरा के दूर रहने पर प्रसन्नता हुई। ज्ञान की प्राप्ति में हमारे पथ में जो भी वाधक वनें, वे सव त्याज्य हैं। संघर्ष के लिए हमारे अभियान में, जो भी हमारे अवरोधक हों, वे सव हमारे अहित-चिन्तक है। उन्हें कोटि-वैरी-सम छोड़ देना चाहिए। मैंने सोचा, यदि सिद्धार्थ यह वात है, तो फिर महाराज, देवी, माँ प्रजापति और यशोवरा क्या चीज़ है!

मुझे ख़याल आया—कहीं यह संन्यासी भी देवदत्त का छद्म वेशी चर तो नहीं है?....फिर मन से उत्तर मिला—हुआ भी, तो तुम्हारा क्या लेगा? और छद्म चर तो सहसा ही ज्ञान-वार्ता नहीं कर सकता। चलो, यह भी एक नया अनुभव रहेगा।

वेश बदल कर मैं सभा में गया। वहाँ संन्यासी का अभिवचन चल रहा था—"परमात्मा ने जीव-जगत् की सृष्टि की है। मनुष्य और पशु बनाए हैं। मनुष्य ने कहा कि वह श्रेष्ठ है और पशु निम्न है। पशु क्यों नीचा है? उसमें ऐसे कौन-से अवगुण हैं कि वह मनुष्य की जाति में नहीं आ सकता? उसने कौन-सा अपराध किया है?

सृष्टि के समस्त प्राणियों में मनुष्य अकेला अपने-जैसा है। वह सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न एवं अद्वितीय है। शारीरिक शक्ति में पशु बली हो सकता है किन्तु बौद्धिक एवं आत्मिक शक्ति में मनुष्य बड़ा है।

इस बुद्धि-बल ने ही मनुष्य को पशु से बड़ा बनाया है। और बुद्धि में भी चेतना ने उसको विकास दिया है। और इस मनुष्य के विविध रूप हैं। मूर्ख, अमूर्ख। पंडित, अपंडित। परिपूर्ण, अपूर्ण। इन विभिन्न रूपों में, मनुष्य के दर्शन होते हैं। भक्त, दास, प्रेमी, न्यायी, अन्यायी अनेक स्वरूपों में वह प्रतिष्ठित है।

लेकिन, जिस प्रकार पशु में पशुता सुलभ है उस प्रकार मनुष्य में मनुष्यता सुलभ नहीं है!

पशु अपने स्वरूप एवं कार्यों के प्रति सच्चा है, किन्तु मनुष्य अपने कर्त्तव्य एवं रूप-अनुदान के प्रति सच्चा नहीं है। पशु अपने मन और मस्तिष्क को धोखा नहीं देता। मनुष्य प्रति पल अपने मन, मस्तिष्क और आत्मा को छलता है। पशु मनुष्य से अधिक प्रकृत जीवन बिताता है। वह प्रकृति के नियमों का उतनी सरलता से भंग नहीं करता, जितनी सरलता से मनुष्य प्रकृति की लीक के विरुद्ध जाता है। मनुष्य ने इस प्रकार, अपना जीवन अप्राकृत जीवन का प्रतीक बना दिया है। पशु-जगत् अपने सामाजिक विधान का उल्लंघन नहीं करता। जातीय मर्यादा में जीता है। मनुष्य को अपनी सामाजिकता और जातीयता का सम्मान करना नहीं आया। मर्यादा में जीना नहीं आया। मनुष्य अप्राकृतिक, असामाजिक एवं अजातीय जीवन बिता कर, पशु से भी हीन कहलाया।.. हमने 'जीयो और जीवित रहने दो' के रूप में मानव मात्र को स्वीकृति दी। प्राणी मात्र के, अणु के समान जीव-जंतु से लेकर हाथी और उससे भी बड़े प्राणियों में से सभी का जीवन स्वीकार किया। यहाँ तक कि अपने लाभ एवं स्वार्थ के लिए किसी भी रूप में उनकी हिंसा तो दूर रही, उन्हें कष्ट पहुँचाना तक पाप समझा। इस प्रकार मानव और धर्म की स्वीकृति हमने प्रकाशित की। विरोधी को वाणी की स्वीकृति दी।

अब हमारी सबसे बड़ी स्वीकृति आनी है—ईश्वर सम्बन्धी। जब सभ्य-सभ्य की सभ्य कहलाने वाली जातियाँ अंधकार में गोते खा रही थीं, हम ब्रह्म, चेतन, ज्योति, सत्य, परमात्म के रहस्यों को पा चुके थे। उन रहस्यों का अवगाहन कर

भारतीय मनीषा ने जीवन और मुक्ति का पारस पाया। अपने सिद्धान्तों पर अटूट विश्वास और समयानुकूल अवस्थाओं का निरीक्षण और दिशा-निर्देशन, सत्य की ओर सभी कठिनाइयों में रहना भारतीय-सांस्कृतिक-परम्परा की विशेषताएँ रही है।

हम सदैव सत्य की ओर रहे और हमने माना कि जिधर सत्य होगा उधर जय होगी। और इसी एक सिद्धान्त पर विश्वास रख कर पाडवो ने असत्य एवं मिथ्यात्व के विरुद्ध महायुद्ध लड़ा।

हमारी यह परम्परा रही है कि हम सत्य की ओर अग्रसर हो। इस तथ्य का एहसास करें कि सत्य हमारी ओर है। लेकिन, इस वात का दुराग्रह न करें कि हमी सच्चे हैं। छोटी-छोटी वातो को लेकर संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ अलग नही हो जाती। मूल जीवन-प्रवाह को वदलने वाली धाराओ पर संस्कृतियो की श्रेष्ठता निर्भर है।"

श्रोता 'धन्य-धन्य' कह रहे थे।

"मित्रो! जैसा कि हम देखते हैं दुनिया भर की संस्कृतियो ने अपने दार्शनिक एवं धार्मिक उत्थान में, मनुष्य को अधिक से अधिक, मनुष्य मात्र समझा। उसकी उन्नति एवं सुरक्षा के उपाय ढूंढे और उसके अनेकागी-विकास की व्यवस्था की। किंतु भारतीय सस्कृति ने मनुष्य को मात्र अस्थि-मजा का पिंजर मान कर ही चैन न ले लिया, वरन्, उसने इन्सान को 'भगवान' समझा। उसने वताया कि मनुष्य यदि वढे तो भगवान वन सकता है। मनुष्य ही भगवान् है। मनुष्यत्व में ही ईश्वरत्व प्रतिष्ठित किया।

राम का जीवन मर्यादा, सत्य और संघर्ष की इतनी बड़ी मिसाल वन गया कि लोगो को उनमें ईश्वरत्व की सभी सीमाएँ विलय होती दिखाई दी और उन्हे विश्वास हो आया कि यह राम ही ईश्वर है। ईश्वर ही राम है! इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी संस्कृति परमात्मा की देन है। और परमात्मा हमारी संस्कृति की देन है। विश्व मे सवसे अधिक, आध्यात्मिकता और आस्तिकता का क्षेत्र-शोधन हमारी संस्कृति ने किया है। उसने मनुष्य की सदेह मुक्ति का मगल-गीत रचा है।

हमारी संस्कृति ने 'उद्धार' किसी दूसरे के हाथ में नही रखा। व्यक्ति का उद्धार या मोक्ष उसी के हाथ में रहा और रहेगा—यह हमारी सस्कृति ने कहा। हमारे अवतारो, तीर्थङ्करो और भगवानो को मनुष्य-रूप में अपनी लीला दिखलानी पडी। आकाश में वैठे-वैठे उन्होंने सारा चमत्कार नही कर लिया। यदि ऐसा होता, तो संसार में मनुष्य कव का खत्म हो गया होता! तव न मनुष्य-

रहता, न देवत्व। शैतानों का राज्य होता और वे आज्ञाकारी देवों को भी शांति से नहीं बैठने देते। हमारी सभ्यता का विकास इस प्रकार किया गया है कि हमारा सर्वस्व मनुष्य में से परमात्मा बनने के लिए लगा हुआ है। हमारा भोग, योग, भजन-भोजन सभी ईश्वरत्व की खोज में हैं, मनुष्य का विकास उस श्रेणी तक करने की तत्परता में हैं जब वह भगवान बन जाएगा।

यह जो लम्बी-चौड़ी दुनिया दीख रही है, इसके निर्माण में कुछ उद्देश्य अवश्य होना चाहिए। आप ध्यान रख कर सुनें और स्मरण रखें कि इस संसार की रचना 'परमात्मा बनाने' के लिए है। सांख्य-दर्शन के पहले श्लोक में आत्यंतिक सुख-प्राप्ति पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य की सार्वकालिक, सच्ची शांति पर संतों ने, धर्मों ने जोर दिया है—यह शांति क्या यूं ही आ जाएगी। आज सड़क पर मनुष्य का जो चोला भटक रहा है, उसे मिल जाएगी। नहीं। उस चोले और मनुष्य में पर्याप्त परिवर्तन करना पड़ेगा। ईशोपनिषद् का श्लोक है: ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णं मुदच्यते। आदि। इसी पूर्णत्व की प्राप्ति का सौभाग्य मनुष्य को मिला है। मनुष्य को यदि सबसे बड़ा गौरव प्राप्त है तो वह है—उसका ईश्वरत्व! जिस प्रकार वट में बीज और उसके प्रत्येक बीज में एक-एक वट छिपा है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य में एक-एक परमात्मा का निवास है। वह नाना नाम, रूप और आकार-प्रकारों में विचरण कर रहा है। भारतीय संस्कृति ने इस महत्त्व पर सदैव जोर दिया है।

वट और बीज के उदाहरण से पिण्ड में ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड में पिण्ड की परिभाषा स्पष्ट होती है। सारा विश्व ईश्वरमय है। कण-कण में राम रम रहा है। प्रत्येक मनुष्य में परमात्मा बोल रहा है। परन्तु, उसकी बोली समझने वाले कान हमारे पास नहीं, किन्तु उसे पहचानने वाली आंखें हमारे पास नहीं।

भाइयो! 'अप्पा सो परम अप्पा' का सत्य हमें पहचान लेना है। यह उपदेश पठन-पाठन के लिए नहीं दिया गया है। हमारे अपने जीवन में और लोगों के जीवन में हम इसे प्रत्यक्ष देखें और दिखाएं, इसीलिए इसका महत्त्व है।

भारत संस्कृति का केन्द्र है। उसने घोषणा की कि मनुष्य परमात्मा है। सारे संसार में यह वाणी गूंजी। और अन्य धर्म व्यवस्थाएं तथा संस्कृतियां इस पर विचार करने को बाध्य हुईं। बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने [illegible] में आवश्यक परिवर्तन किए। लेकिन भारत के सिवा किसी ने नहीं कहा कि [illegible] मनुष्य है। यह मनुष्य [illegible] में, [illegible] है। [illegible] एकमात्र उद्देश्य है और वह है—मनुष्य में छिपे [illegible],

इसलिए भाइयो और बहनो, यह [illegible] —

में जी रहा है, इसलिए वह परमात्मा है। तुम इस रूप की रक्षा करो। इसे विकृत न होने दो। निरन्तर इस ध्येय में लगे रहो कि हमारा तन, मन, जीवन शुद्ध हो, आत्मा शुद्ध हो और उसे परमात्म-स्वरूप मिले। यदि आपने अपनी आत्मा की स्थिति जागृत कर ली, तो आप परमात्म-रूप को निकट पाएँगे।

सभी यही कहते हैं कि मनुष्य मोह का मोर्चा हटा कर अपनी आत्मा के आइने को साफ करे, उसमे परमात्मा का अस्तित्व स्पष्ट झलकने लगेगा। लेकिन, कितने हैं, जो ऐसा करते हैं ?

अतएव मैं जोर देकर कहता हूँ कि इन्सान की सेवा भगवान की सेवा है। प्राणी मात्र को जीवित रहने दो। तभी आपका जीवन सुरक्षित रह सकेगा। क्योंकि आपका जीवन दूसरो के जीवन पर आश्रित है। सबको मार कर कोई जीवित नहीं रह सकता। सबकी सेवा में आप अपनी सेवा कर रहे हैं।

अनहित और हिंसा हमारी परम्परा नही। ये असुरों और युद्धखोरो की रीतियाँ हैं। भारत मे इनके लिए स्थान नही। भारत में जब-जब हिंसा आई वह अहिंसा का चोला पहन कर आई, जैसे यज्ञों में की जाने वाली ये हिंसा ! इसे भी बंद कर देना होगा। कुछ व्यक्तियों के जीवन में परिवर्तन आया है और उन्होंने समझ लिया है कि लोभ, मद, मोह, मत्सर, कषाय, परिग्रह को भस्म करना ही सच्चा यज्ञ है। सच्चा यज्ञ तो ज्ञान का है। जिसके विशाल कुंड में कल्मष भस्म हो जाते हैं। जिसकी आत्मा ज्ञान से आलोकित है उसका निर्माण, उसका निर्वाण और कल्याण दूर नहीं। यही भारतीय संस्कृति का सार-स्वरूप है।...." बड़ी देर तक तालियाँ बजती रही।

संत के इस उपदेश का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा। यही सब कुछ तो मै कहा चाहता था। संतो ने मेरी विचार-माला को वाणी दी।

लेकिन, ये ब्रह्म और ब्रह्माण्ड की बातें मुझे अच्छी नही लगीं। ये सब मिथ्या है। और आत्मा-परमात्मा के बारे में तो मेरे विचार वही हैं, जो मै उस दिन अन्ना के सामने प्रकट कर चुका हूं।

जब मैंने छद्मवेश छोड़ कर अपना राजसी वेश पहन लिया और रथ के समीप वहाँ आया, जहाँ छन्ना था, तो मैंने उसे देखते ही तुरन्त कहा—'छन्दक मै भी संन्यासी बनूँगा। मैं भी निर्ग्रन्थ-अचेल साधुओं में दीक्षित हूँगा।'

'यह क्या कह रहे हैं ?'

'मैं ठीक कह रहा हूँ, अपने मन की बात कह रहा हूँ।'

छन्दक का चेहरा उतर गया और कुछ-कुछ पीला पड़ गया। मेरे मन में

विचार उठा, अपने भाषणों मे इन संतो ने जो कुछ कहा, उसके लिए विरागी बनना क्यों आवश्यक है? यह तो ये गृहस्थ रह कर भी कह सकते थे। और यदि विरागी बने, तो अपने ये केश और दाढ़ी क्यो मुँड़वाए? अब मेरे लिए आवश्यक हो गया कि मैं इस बारे में छन्दक से कुछ पूछूँ, अन्यथा यह जिज्ञासा मन में भटकती रहेगी, और मुझे चैन न लेने देगी—

'सौम्य छन्दक, यह पुरुष कौन है?'

'देव! यह प्रव्रजित है।'

'इसका सिर भी मुँड़ा है और वस्त्र भी दूसरे लोगों जैसे नहीं हैं?'

'कुमार, यह संसार छोड़ चुका है, सो संसारिक वेशभूषा से इसे क्या?'

'यह प्रव्रज्या क्या चीज़ है?'

'देव! धर्मानुसार आचरण करने के लिए, शांति पाने के लिए, और उसका लाभ दूसरे प्राणियों को देने के लिए, पाप-प्रक्षालन और पुण्य-संचय के लिए यह प्रव्रजित हुआ है।'

'क्या इस ध्येय के लिए इसने गृहस्थाश्रम भी छोड़ दिया है?' मुझे याद है मैंने छन्ना से यह प्रश्न उस दिन किया था।

'यथार्थ है देव!'

'तो छन्दक! रथ को वहाँ ले चलो, जहाँ यह प्रव्रजित हुआ है।'

'जो आज्ञा युवराज! परन्तु हम नहीं जानते, यह तपस्वी किस स्थान और किस गुरु से दीक्षा लेकर सन्यस्त हुए हैं।'

'सौम्य, क्या प्रव्रज्या के पूर्व, गुरु का होना आवश्यक है?'

'यह तो मैं नहीं जानता। मैं साधारण जीव ऐसे गहन प्रश्नों का उत्तर कैसे दे सकता हूँ कुमार! अपराध क्षमा करें।'

'उचित कहते हो छन्दक! तो किसी प्रकार रथ इन तपस्वियो के आवास तक ले चलो, मैं तुम्हारा उपकार मानूँगा।'

'देव, यह क्या कहते हैं? कोई राजकीय गुप्तचर देख लेगा! मैं तो कुमार का दास हूँ, आज्ञा का पालन करूँगा। वही मेरा धर्म है?'

'तब मन में तुम्हारे यह असमंजस कैसा? चलो, बढ़ाओ रथ।'

'जो आज्ञा देव!' छन्दक ने रथ बढ़ा दिया, परन्तु मैंने देखा वल्गा-पकड़े उसके हाथ कुछ-कुछ काँप रहे थे।

संन्यासी से मैंने पूछा—'हे! आप कौन हैं? आपके वस्त्र अन्य लोगों जैसे

नहीं हैं ! सिर भी मुँड़ा हुआ है । वदन पर तेज भी है ! कहिए, आप कौन हैं ?'

'भद्र, मैं प्रव्रजित हूँ । वैरागी हूँ । हम वैरागियों की यही वेश-भूषा है । हमें केशों के शृंगार से क्या प्रयोजन ? सुन्दर परिवेश हमारी साधना में बाधक ही है ।'

'ठीक. और आप प्रव्रजित हैं, इसका क्या आशय है ?'

'देव, मैं, शुभ धर्माचरण के लिए प्रव्रजित हुआ हूँ । समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा, सब के प्रति क्षमा और अहिंसा हमारा कर्त्तव्य है ।'

उस सन्यासी को हृदय से नमन कर मैं रथ पर आरूढ़ हुआ ।

जब मैं अन्त पुर लौटा तो मेरे मन में नई अशांति थी । एक पर एक प्रश्न उठ रहे थे । यशोधरा तो थी नही । मै अपने कक्ष में गया और भित्ति पर टँगे उसके तैल-चित्र की ओर देख कर कहने लगा—'यशोधरे, सुन रही हो, मैंने आज सन्यासी देखा है । बड़ी मधुर कान्ति थी उनके चेहरे पर, अधरों पर विचित्र, विजयिनी मुस्कान थी । मैं तो उस मुस्कान को अपना सर्वस्व समर्पित कर चुका । अब मैं भी युवराज्ञि, सिर-दाढी मुँड़वाऊँगा, काषाय पहन कर घर से बेघर होऊँगा ! मैं प्रव्रजित होऊँगा, । मैं लोक की शांति और जन-जन के सुख के लिए अपने सर्वस्व का परित्याग करूँगा ।. . .अब अपनी इन रसवती आँखो से मेरी ओर न देखो, यशोधरे ! अपने इन होठों की मादकता से मुझे बेसुध करने का तुम्हारा यत्न वृथा जाएगा देवबाला । मैं तुम्हें भी छोड़ दूँगा ।.... कह चुका न, मैं अवश्य प्रव्रजित होऊँगा ।'

उस रात मुझे नीद नही आई ।



[२३]

शैवालिका देवदह से लौटी थी। वहाँ के समाचार लाई थी। देवी के विना मेरा ज़ी न लगता था। यशोधरा में एक अनोखा तेज है। उसका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। पिछले दिनो वह यहाँ होती तो मुझे सहारा ही मिलता। चैन ही मिलता।

शैवालिका ने वताया—

"कुमार, मै अभी ही देवदह से आ रही हूँ। अरे वाप रे, क्या है वहाँ के लोग। कुमार वुरा न मानना, सच कहती हूँ, ऐसे लड़ाकू लोग मैंने अपने जीवन मे कही नही देखे! और स्त्रियाँ ऐसी नखराली कि वा....वाह! ....देवी की दोनों वहने भी वही थी। और उनके तीन दर्जन वच्चे! हाय राम, ऐसे अगिया-वैताल-छोकरे मैंने कही नही देखे! अपने-जने होते तो, मुँह में अंगारे भर देती। देवी को पल भर भी चैन से नही सोने दिया!

'मौसी, मौसी' चीखते रहते और वहनें भी हर दम छाती पर छाई रहती—'तुम्हारे वे कैसे हैं? तुम्हारे वे कैसे हैं?'. .यह अच्छा हुआ कि उरुवेला से सुजाता भी देवदह आ गई थी। अपनी सहेली की इस मंगल-घड़ी में वह पास रहना चाहती थी। देवी तो निरतर आपके ध्यान में मग्न रहती हैं। मुख पीला पड़ गया है। अधर कुछ कृष्ण हो चले हैं, फिर भी एक अनोखा स्वरूप निखरा है इन दिनो देवी में। जिस प्रकार शनै. शनै. दूज का चन्द्रमा वढ़ता है, उस प्रकार धीरे-धीरे कुलवधू का कटिप्रदेश वढ रहा है।...मुझे तो पूरा विश्वास है कुमार, देवी की कोख से राजकुमार का जन्म होगा। ओह, कितना मंगलमय होगा वह पल मेरे लिए। मेरा अनुमान है, अव तो वहाँ से साँझ-सुवह में संवाद आता ही होगा। इस वार मै पूरा-पूरा पारितोपिक लूँगी, पहले मे कहे देती हूँ। रोहिणी के तट पर, वह जो भवन खाली पड़ा है, मुझे वडा अच्छा लगता है।'

'वह तो तुम अब भी ले सकती हो।'—मैंने शैवाली से कहा। वह वारंवार मेरी वलैयाँ लेती चली गई।

दो पल बाद शैवालिका पुनः दौड़ती हुई लौटी। इस बार उसके साथ छन्दक और अन्य अनुचर भी थे। उनमें कुछ अपरिचित चेहरे नज़र आए, मैं समझ गया कि देवदह से कोई खबर आई है। शैवालिका आगे-आगे थी। उसने दूर से ही कहा—'कुमार की जय हो! धन्य भाग्य है हमारे, देवी यशोधरा ने अभी ब्रह्म-मुहूर्त में राजकुमार को जन्म दिया है। देवी और शिशु दोनो स्वस्थ हैं, सकुशल हैं।'

'छन्दक, पारिजात से किसी महिला को भेज कर, हमारी ओर से देवी की कुशल पूछने का प्रवन्ध हो।'

'जो आज्ञा युवराज!'

मुझे आनन्द तो न हुआ, पर जाने कैसी एक पुलक से मन-प्राण भर गए। मन में ध्वनित होता था, अपनी ही एक लघुतम प्रतिच्छवि जैसे अवतरित हुई है। इस मूर्ति में देवी ने अपना दूसरा सपना प्रत्यक्ष पाया है।

मैंने एक नए दायित्व का अनुभव किया। छन्दक पास में ही खड़ा था, मैंने कहा—'तुम तो प्रसन्न हो, परन्तु यह राहु का जन्म है। यह नया वन्धन जन्मा है।'

उसी दिन, संध्या-समय शैवालिका ने मुझे वताया कि दोपहर में जब छन्दक महाराज की सेवा में उपस्थित था, उससे पूछा था शाक्येन्द्र ने—'कहो भो, हमारे सिद्धार्थ ने क्या कहा, देवी यशोधरा के इस उपहार को पाकर?'

'देव! युवराज वोले, यह राहु पैदा हुआ है। यह नया वन्धन आया है।'

'भोला है कुमार! सच, छन्दक हमारा सिद्धार्थ अभी वालक है। उसने दुनिया नहीं देखी। यह तो यशोधरा है जो उसे जीवन-यात्रा में अपने साथ ला सकी। वरना, तुम तो जानते थे, कितना द्रोह था कुमार के मन में! तो यो वोला सिद्धार्थ, राहु पैदा हुआ है! हाँ जी, देखना है अब, हमारा वेटा इस नए वन्धन को कैसे अस्वीकार करता है? सन्तान का मोह वहुत प्रवल होता है। और छन्दक, क्या राय है तुम्हारी इस शिशु का नाम 'राहुल' ही क्यों न रखा जाए।'

'भगवन्, देवी यशोधरा क्या इसे पसन्द करेगी?'

'हाँ छन्ना, उसकी पसन्द पहली और आखिरी पसन्द होगी। खैर, पूरे साम्राज्य मे समारोह मनाया जाए, वन्धुमान् से मैं कहूँगा।'

इस प्रकार राहुल का नाम रखा गया। दो मास पश्चात् यशोधरा अपना यह फूल लिए कपिलवस्तु आई। उसकी देह कुछ दुर्वल प्रतीत होती थी। मैंने

जब कहा, तो हँस कर टाल गई। वास्तव मे तो, वह अपने शिशु में भूली थी। अभी उसकी उम्र ही क्या थी! उसे नया एक खिलौना मिल गया था। अब सेविकाओ पर गुस्सा भी कम करती थी और मुझ से भी बात-बात मे रुष्ट नही होती थी।

दिन बीतने लगे। राहुल ज्यो-ज्यों बढ़ता था, देवी की प्रसन्नता बढ़ती जाती थी। उसका मन राहुल मे खोया था। मेरा मन संन्यासी के वचनो मे लगा था। पिताजी मुझे राजपाट सौप कर वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहते थे। और इस विषयक समाचार सुन-सुन कर यशोधरा के मन में एक नवीन उत्साह का सचरण हो रहा था। सम्भव है, उसकी कल्पना हो, मैं अब सम्राज्ञी बनूँगी। मेरा बेटा युवराज बनेगा। चाँद-सी दुल्हन लाएँगे हम अपने राहुल के लिए—और जाने क्या-क्या वह सोचा करती, कहा करती, परन्तु कितनी भोली थी! यह भी भूली हुई थी कि राहुल तो अभी छ. महीने का भी नही हुआ है!

एक दिन अवसर देख मैंने यशोधरा से कह दिया—'मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ।'

उस पर तो जैसे गाज गिरी। मेरा मुंह जोहती स्तब्ध खड़ी रह गई। ओठ खुले रह गए, पर कुछ कह न सकी। आँखें मुझे चीन्हती रह गईं। उसने गोद मे शिशु को झूले में लिटा दिया और अपनी सेज पर अधलेटी, तकिए में मुँह छिपाकर रोने लगी।

मैंने देवी को बहुतेरा समझाया। मैंने यह भी कहा कि यह तो मेरा विचार मात्र है, किन्तु उसने एक न सुनी। उसने तकिए से मुँह बाहर तक न निकाला। वह तो जैसे किसी तपी का तप भग करनेवाली, शापहता अप्सरि-सी लग रही थी। मुझे छोड़ना नही चाहती थी और अपनी चिन्ता उसे इतनी थी कि, मेरी सुनना भी नही चाहती थी। इन राजपुत्रियों की यही रीत है। अपने विभव और यौवन मद की खुमारी में ये इस क़दर बहकी-बहकी रहती हैं कि इन्हे सिर्फ वही सूझता है, जो ये देखना चाहती हैं। जब-जब मैं इस वर्ग का जनून देखता हूँ, मेरा मन उसको विनष्ट कर देने के लिए आकुल हो उठता है।

राहुल बढ़ रहा था। मेरे प्रति देवी का रोष बढ रहा था। संसार के प्रति मेरा विराग बढ़ रहा था। दिन के पीछे दिन बढ रहे थे।

जिस दिन मैंने यशोधरा से पहली बार प्रव्रज्या की बात चलाई थी, उसी

दिन वह परम भट्टारक के प्रासाद में दौड़ी गई थी। प्रजा माँ की गोद में रो-रो कर अपनी कष्ट-कथा और मेरी शिकायतें उसने रख दी थी। फिर महाराज से भी उसने बहुत कुछ कहा। परिणाम मे इस राज-परिवार ने मेरे चारों ओर बन्धनों की बाड़ लगा दी। मुझे यह न मालूम था कि प्रस्तुत अनुचरों में से कौन मेरा सेवक है और कौन राजकीय गुप्तचर! इस मोहपाश के नव-नवीन अनुभवों से मेरा जी क्षुब्ध हुआ। एकान्त मे ही मुझे चैन मिलने लगा। अपने अध्ययन, मनन और चिन्तन में ही मैं डूबा रहता।

अब मैंने खुले आम सन्यासियो की संगति में जाना शुरू कर दिया। आज पावा, कल कुसीनारा और वैशाली। यों मै संतो और दार्शनिको के पीछे-पीछे दौड़ने लगा।

जितना जान रहा था, उतना जान लेने का नशा बढ़ता जा रहा था। रत्नाकर की तरंगों के समान प्रतिपल, प्रतिदिन चिर-नूतन अनुभव मिल रहे थे। मुझे लगता था, आज तक मेरा जीवन यों ही व्यर्थ बहा—बहा! मैंने जो दिवस हेमन्त, ग्रीष्म, और वर्षा-प्रासादों मे काम-कुमारिकाओं की क्रीड़ा-केलि के बीच खोए थे, उनके लिए अन्तर मे अतीव पश्चात्ताप था।

मैं यह नही कहता कि भोग आवश्यक नही, किन्तु भोग ही सब कुछ नही है। भोग के सरोवर में हमें सरोजवत् रहना चाहिए। भोग के पश्चात् मानव मन की जो अवस्था होती है, वैसी यदि सदैव बनी रहे, तो अच्छा ही है। उसी प्रकार रोग के समय और योग के पूर्व की दशाएँ अग्राह्य तो नहीं!

रात में यशोधरा सोई रहती, और मैं वेश बदल कर, महल से निकल पड़ता। मैंने इन दिनों जनता की स्थिति का अध्ययन किया। एक ओर सुख-सुविधा के समग्र साधन, दूसरी ओर भूख और दारिद्रच! पारिजात में यशोधरा के पालतू मृग और श्वान सोने के पिंजरों में रहते थे, इधर नगर के बाहर मैंने मनुष्य के बेटे को पशुओ से भी अधिक दुर्दशा मे जीते देखा। श्रम और घोर श्रम से, शूद्र कहलाने वाला, यह वर्ग पशु बन गया था। समाज की रचना और विधान जिनके हाथ में थे, उन सर्वहारियों ने सर्वस्व का अपहरण कर लिया था और स्वरचित शास्त्रों के काले पन्ने दिखलाकर इन्हे इस भय से अभिभूत कर दिया था कि यदि ये अपने वर्ण के अनुरूप कार्य न करेंगे तो नरक में जाएँगे। इनके कल्याण का एक ही मार्ग है—सेवा। और इस हत्यारिनी सेवा की नागिन ने इन निम्नवर्गीय लोगों को पूरी तरह डस लिया था।

मैंने इनके घरो में भूख से तड़पते शिशुओ को देखा—ठीक राहुल-जैसे शिशु ! उससे भी अधिक सुन्दर और सलोने ! क्योंकि राहुल की आँखो में तो उसकी अम्मा-द्वारा पिए गए वारुणी के असंख्य प्यालो की खुमारी थी। उस (राहुल) के पूर्वजो की खूनी आदतों की रेखाएँ थी। लेकिन...... मैं कहता हूँ, इन भोले अनाथ बच्चो में अधिक सारल्य था। ये वे बच्चे थे, जिनके पिता का पता नही था। इनमें से अनेक कुमारी माँओ के परित्यक्त बेटे थे। ये वे राजकुमार थे, जिनकी जनेताएँ, उन्हे घूरे के ढेरों पर छोड़कर, अँधेरे मुँह किसी अज्ञात दिशा में चली गई थी।. . .फिर भी ये राजकुमार तो थे ही। कुटिया हो या महल, हरेक माँ को अपना बेटा राजकुमार है ! और मैंने देखा—नब्बे से अधिक वर्ष के वृद्धो और वृद्धाओ को चिलचिलाती धूप में काम करते, पशु चराते, हल चलाते और बोझा ढोते। और मैं सोचता रहता, जिस देश की यह दशा है, वह अवश्य एक दिन परतन्त्र होगा, अवश्य वह रसातल को जाएगा। यदि उद्धार का कोई क्रान्तिकारी मार्ग न पाया गया, अपनाया गया तो, सबकी गुलामी और सबकी दासता अनिवार है।

जब मैं ऐसे किसी आदमी को कर्मरत देखता, तो मेरा मन करुणा से हाहाकार कर उठता और मैं उसकी तल्लीनता में उस मुक्ति को साकार देखता, जिसका गुण-गान करते हमारे साधको का मुँह आज तक न थका !

मैं दौड कर, बोझा ढोती वृद्धा को सहारा देता, उसकी गठरी-पूरी मैं स्वय उठाकर ले चलता। मैंने शीत में ठिठुरते बच्चो के साथ काम किया है, वे इधर-उधर सूखी लकड़ियाँ खोजते रहते। मैं उन्हें ईन्धन बीनने में मदद देता और उनकी कुटियो में उनके परिवार को आग से तापते देख मेरा मन हर्ष-विभोर हो जाता। अक्सर मैं महल से खाद्य-सामग्री छिपाकर उन तक ले जाता। 'भोजन करते हुए उन भूखो की तस्वीर' अब भी मेरे मन पर अंकित है।

—परन्तु मैं क्या-क्या करता ! व्यक्ति के किए, क्या होगा ? मैंने इस अनुभव से यह निदान पाया कि जब तक सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन नही होगा, तब तक जन-जन के कल्याण की बातें, कोरी बातें और कोरी कहानियाँ बन कर रह जाएँगी। प्रचार जितना है, काम उतना नही है। जनता को खुल कर धोखा दिया जा रहा है—'हमने तुम्हारे लिए ऐसी-ऐसी योजनाएँ बनाई हैं, यह किया है, वह किया है !' किन्तु कुछ किया होता तो वह सब न होता, जो नजर आ रहा है। और जो नजर आ रहा है वह अत्यन्त भयंकर और कुत्सित है। वह इस समाज को या तो तलातल में ले जाएगा या उलट देगा। हो सकता

है, एक, दो, दस सदियाँ गुजरे, मनुष्य नींद लेता रहे, परन्तु रात स्वयं इस बात की गवाही दे रही है कि भोर का उदय होगा। इसलिए मेरा मन मुझे कहता रहा कि राष्ट्रों के जीवन में दो, पाँच, पच्चीस शताब्दियों की कोई गिनती नहीं। समाज के स्वामी जिस ऐश्वर्य का संग्रह कर रहे हैं वही उनके विनाश का अग्रदूत बनेगा। जिस धन-कंचन को लेकर ये श्रेष्ठीजन अर्थ-पिशाच बन गए हैं, उसी अर्थ के आधार पर क्रान्ति होगी। और वह सब को सब में बराबर बाँट देगी।

मैंने पिछली भेंट पर बन्धुमान् से कहा था कि, काम उनसे भी लो, काम उनको भी दो जो बेकार हैं। तो वह हँस पड़ा था—'यदि कुमार, तुम्हारे बतलाए मार्ग पर हम चलें, तो बस, राजकोष में कानी कौड़ी न रहे। अरे भोले तरुण, ये शूद्र श्रमिक बेकाम, न रहेंगे तो, हमें सस्ते सेवक कहाँ मिलेंगे? यदि इन्हें भी पठन-पाठन का अवसर मिलेगा, तो ये सेवा-कार्य छोड़ देंगे। और परिणाम यह निकलेगा कि राजकुमारियों को चूल्हा फूँकना पड़ेगा। इसलिए हम इन्हे इतना ही देते हैं, जितने से ये भूख से न मर जाएँ और इनके पास कुछ बच भी न रहे। यदि बच रहेगा, तो दूसरे दिवस ये काम पर न लौटेंगे। हम चाहते हैं कि श्रमिक की सन्तान श्रमिक बनी रहे। और ये अभागे बच्चे भी इतने पैदा करते हैं कि इनके घरों में भूख की भूमिका सदैव उपस्थित रहती है।'

'बन्धुमान् जी, हरेक बच्चा दो हाथ लेकर आता है, यदि आप उसे काम न दे सकते हैं, तो यह किसका अपराध है? यदि सब लोग काम करें और सबको बराबर काम मिले तो, सब लोग काम में लग जाएँगे और काम का भार भी हल्का हो जाएगा।'

बन्धुमान् के जाने पर मैं पर्याप्त काल तक श्रम, श्रमिक और पारिश्रमिक की समस्या पर विचार करता रहा। मुझे यह प्रतीति हो गई कि संसार में श्रमिक सब से ईमानदार व्यक्ति है। अपराधी है वह, जो श्रम नहीं करता है, जो श्रम करता है, वही श्रमण है।

अब तक वैराग्य लेने का मेरा निश्चय दृढ़तर हो गया था। राहुल की वर्षगांठ आ गई थी और महलों में उसके लिए भारी तैयारियाँ की जा रही थीं। यशोधरा दिन-रात व्यस्त रहती थी। यशोधरा की यह व्यस्तता देख मुझे अपनी माँ की याद आती थी। काश, आज वह होती, तो देवी की तरह मेरे जन्म-दिवस पर पुलकित हो, इस कक्ष से उस कक्ष तक फिरती रहती।

राहुल की वर्षगांठ के दिन जो समारोह मनाया गया था, उसमें कृशा गौतमी

भी आई थी। अभी उसका विवाह नहीं हुआ था। महल के छज्जे पर वह खड़ी थी। उधर से जुलूस निकला। मैंने गौतमी की ओर देखा। अपनी सहेलियों के बीच वह भाल की बिन्दु-ज्यो परिलक्षित हो रही थी। मुझे देखते ही बोली—

'धन्य है वह माँ, जिसने इसे जना है। जो इसका पिता है, निर्वाण उसका है। धन्य है वह कामिनी, जिसका यह कंत है। निर्वाण उसका है, इस देव पुत्र का जो अपना जन है।'

सुन कर मैंने उसके शब्दो पर मनन किया—यह निर्वाण के पथ की ओर संकेत कर रही है। मै इसका आभारी हूँ। इसे तो गुरु-दक्षिणा देनी चाहिए। और इस विचार के आते ही मैंने अपना हीरक-हार उसकी ओर फेंक दिया। उसने झेलकर अपनी छाती से लगाया और उल्लास के अतिरेक मे आँखें मूँद ली।

इस घटना के वाद कोई दो दिन वीते होंगे, पारिजात की एक परिचारिका ने मुझे वतलाया कि कृशा को हार-उपहार मिलने की चर्चा नगर में घर-घर फैली हैं। यहाँ तक तो, खैर कोई वात नहीं थी, पर मैंने सुना, एक सेवक के मुँह से—कृशा गौतमी कहती थी, राजकुमार सिद्धार्थ मेरे प्रेम में पड़ गए हैं। मुझ पर मोहित हैं। तभी न, मुझे वह उपहार दिया है।

विचित्र है नारी का हृदय। अद्भुत है नारी का चरित्र।



[२४]

हृदय की व्यथा का गीत गाने के लिए जीवन जब किसी गायक को नही पाता, तो वह अपने मस्तिष्क के अभिभाषक- रूप मे दार्शनिक की सृष्टि करता है। लेकिन दार्शनिक सदैव सत्य कहने का हामी रहा है। वह सदा अपने समय से आगे रहता है, इसलिए उसे अपने कटु सत्य के प्रतिफल की चिन्ता नही। और सत्य तो ऐसी चीज़ है, जो ज्ञेय है परन्तु अकथ्य है, उसकी चर्चा हमेशा तो नही हो सकती। कोरे सत्य को खोजने के लिए एक अन्वेषक की आवश्यकता पड़ती है । उसकी चर्चा के लिए दूसरे संत का होना जरूरी है और उसे जानने के लिए तीसरे एक साधक की सम्पूर्ण साधना चाहिए।

इन दिनों मेरे मन मे निरन्तर यह पुकार उठती : जानो, जानो, जानो ! यदि तुम अपने को जानना चाहते हो तो जगत् को जानो। जगत् के इस विराट रूप में अपने व्यक्तित्व का विसर्जन कर दो ।....

मैं सोचा करता, मैं यात्री हूँ, एक राहगीर हूँ, जिसके सम्मुख अन्तरहित मज़िल है । प्रतिदिन मैं अपने अन्तर मे नए और अपरिचित लोकों को पा रहा हूँ। और इन समस्त लोकों के अमित आनन्द का उपभोग करने के लिए, मुझे प्राप्त का त्याग कर देना होगा, क्योकि मै इस जगत् का पूर्ण और अखण्ड भोग करना चाहता हूँ। युवराजत्व का यह ढोंग छोड़ना पडेगा। सच्चा राजकुमार तो वही है, जिसका सिंहासन लोक-हृदय में है।

मैं विश्व के उस वैभव को, जो पहले केवल राजपुत्रों-द्वारा उपभुक्त था, जन-जन को सुलभ कर देना चाहता हूँ, ताकि लोक में यह कहावत चल जाए कि सिद्धार्थ के श्रम से विश्व का वैभव सर्वहाराओ की सेवा में अपना सम्मान समझने लगा है।

तब मन मे एक माँग उठती—यशोधरा का क्या होगा ? उसे कैसे छोड़ोगे ? मैं कहता—'सीधा उपाय है, जिनके साथ बैठकर तुम हँसे-खिलखिलाए हो, उनको भूलना सरल है। परन्तु उन्हें नही भुलाया जा सकता, जिनके गले में बाँह डाल

कर तुम रोए हो। इसलिए, यशोधरा तो मात्र सुख की संगिनी है। जो दुख के संगी हैं, उनका दुख दूर करने का संकल्प अधिक आवश्यक है। मेरे मानस में यह भाव भी नही है कि मैं अपने ही माता-पिता से घृणा करता हूँ। और मुझे कीर्ति की चाह हो। परन्तु चूँकि मुझे सत्य और साम्य की लगन है, निश्चय कर चुका हूँ कि मैं बुद्ध होऊँगा। चाहता हूँ कि मुझसे कोई भीति न रखे और न मैं किसी से भयभीत होऊँ। अपनी मैत्री-भावनावश मैं जड़-चेतन, पशु और मनुष्य सब पर विश्वास करता हूँ और इस विश्वास-भावना का अवलम्बन लिए मैं वनों में अकेला विचरना चाहता हूँ।

और यह जरा, और यह व्याधि, और यह मरण, मैं मनुष्य को इनसे मुक्त करूँगा। उसे इनका निदान दूँगा।

निदान अवश्य कही होना चाहिए। यह असम्भव है कि निदान न हो। मैं खोजकर वह मार्ग पाऊँगा, जिस प्रकार दुख है, उस प्रकार अवश्य ही शाश्वत सुख भी है। इसी भाँति जीवन यदि है, तो मुक्ति भी अवश्य है! अग्नि है, तो शीत भी है। पाप है, पुण्य भी है। यह सत्य है कि जन्म है, तो 'जो जन्म नही है', उसकी खोज होनी चाहिए। गोबर से लथपथ व्यक्ति यदि पास के पोखर में अपना मैल नही छुड़ाता और पोखर के किनारे बैठा उसे कोसता है, तो इस जड़-मूर्ख को क्या कहेंगे! इसी भाँति यदि मैं निर्वाण के सरोवर में अपने पापो का प्रक्षालन न करूँ, तो अपराध मेरा ही है। वैद्य सुलभ होने पर भी, व्याधि को जो बढ़ने दे। उस मरणपथी का नाश निश्चित है। और मैं वासना की ज्वाला में जलता रहूँ और ऐसे गुरु की खोज न करूँ, जो अपने उपदेश-उपचार-द्वारा मेरी पीड़ा दूर कर दे। तो कसूर गुरु का नही है।

मेरा मस्तिष्क इस विचार से घिरा रहता—जिस भाँति कोई व्यक्ति अपनी ग्रीवा से बँधे मुर्दे से घृणा करता है, और किसी-न-किसी प्रकार उससे छुटकारा पाना चाहता है, और मुक्त होकर प्रसन्न-मन विचरता है. उसी भाँति मैं इस देह के भार से, जगत् के इस ताप-संताप से प्रमुक्त हो विचरण करना चाहता हूँ। समुद्र के तट पर नारिकेल-कुंजों में थका-हारा पथी जिस प्रकार श्रीफल का जल पीकर छिलका फेंक देता है उस प्रकार मुझे अपने मोह का परित्याग करना होगा। तट पर पहुँचते, यदि जलयान टूट जाए, उसमें छेद हो जाएँ उसके पाल-पतवार खंडित हो जाएँ, तो यात्री उसे छोड़ कर चले जाते हैं, उसकी तनिक भी चिन्ता नही करते उसी प्रकार मैं नौ छिद्र वाली इस देही का मोह तजना चाहूँगा, उन मुसाफिर की तरह, जो वन-पथ पर डाकुओ से घिर जाने पर, अपनी धन-राशि वही छोड कर, पलायन कर जाता है, वैसे ही मैं देह की सीमा से दूर रहना

चाहता हूँ। क्योंकि ऐसा न हो कहीं कि इसका मोह मुझे मँहगा पड़े और गाँठ की साख भी जाती रहे !

मँझरात साँय-साँय कर रही थी। मेरी नींद उचट गई। मै अपने पर्यंक पर पद्मासन में बैठ गया। नित्य की परिपाटी के अनुसार नर्तकियाँ रागरंग के अनन्तर जहाँ-तहाँ ऊँघ चली थीं। मुझे सोता जान, उन्होने अपना नर्त्तन बंद कर दिया था। सुजाता के नृत्य-दिवस के समान ही आज भी मैंने नर्तकियों और अन्य सुन्दरियों को बिखरे परिवेश में देखा। जुगुप्सा और घृणा से मेरा मन उद्विग्न हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो मै जीवित मानवों के मसान में बैठा हूँ। ये जो स्त्रियाँ कुछ ही समय पहले अनेक भाँति के हाव-भावों और भगिमाओ से दर्शको को रिझा रही थी और ऐसी प्रतीति होती थी मानो ये साक्षात् देवांगनाएँ हैं, परन्तु वह प्रतीति मात्र एक आडम्बर, एक माया-जाल, एक आभास था। इनका सही स्वरूप तो इस समय प्रकट हो रहा है। निद्रा तो एक छोटी-बडी मृत्यु ही है। इन वारागनाओं की दशा देखकर, मुझे यह अनुभव हुआ कि वास्तव मे मृत्यु के उपरान्त मनुष्य किस अवस्था में पड़ा रहता है ! और रूप-सौन्दर्य तो अब मुझे भुलावा नहीं दे सकता। इन मोहिनियों का वह मादक सम्मोहन कहाँ गया ? कितनी विकृत गति है इनकी ? केशों से बँधी नकली चोटियाँ बिखर गई हैं और लम्बे केश दिखलाने का जाल अपना रहस्य खो बैठा है। मुँह से बहते लार ने कपोलो का गुलाबी रग धो दिया है। तो वह आभा एक धोखा थी। मनुष्य ऐसे स्वाँग क्यों भरता है ? वह तो अपनी स्वाभाविक दशा मे ही अधिक सुन्दर है। और उन्नत उरोजों की यह स्थिति ! मृगजल से तृषा तृप्त न होगी।....न होगी। यह सब दुखमय है, क्षणभंगुर है, नश्वर है।....

इस विचार-वीथि पर भटकता हुआ मै अपने कक्ष से बाहर चला। देवी की सेज के समीप गुजरा कि वह स्वप्न मे कुछ बडबड़ाती है, ऐसा मुझे भास हुआ। लौट कर मैं उसकी सेज के निकट रुका। नींद में वह घबराई-सी अस्पष्ट कुछ कह रही थी। उसके सुहावने मुखमण्डल पर भय की रेखाएँ झलक रही थीं।

मैंने अत्यन्त स्नेहपूर्वक उसकी ग्रीवा के नीचे अपनी भुजा का प्रश्रय दिया और पास में लेट कर उसकी देह सहलाने लगा। मैंने धीमे पूछा—'रानी क्या बात है ? क्यों घबरा रही हो ?'

'सिद्धार्थ, सिद्धार्थ !'

'मै यह तुम्हारे पास हूँ। यशोधरे, सपना देख रही हो ?'

उसने आँखें खोल दी और दो पल एकटक मेरी ओर देखती रही, फिर हौले मुस्कराई—'दुःस्वप्न देखा है।'

'सपने सच नही होते।'

'कभी-कभी सच हो जाते हैं।'

'अच्छा, मुझे बताओ, क्या सपना देखा है?'

उसने उठकर दो घूट जल पीया। फिर मेरी गोद में सिर रख कर लेट गई। उसकी अलक-झलक से मदिर गंध उठ रही थी। मैंने कहा—'कहो।'

उसने अपने हाथ में मेरा हाथ कस कर थाम लिया। अब भी उसकी हथेली में प्रकम्पन था। कहने लगी—'प्रिय! मैंने देखा कि आकाश से कई देवगण उतर रहे हैं। उनमे से कुछ पारिजात के छत पर उतरे, और उन्होंने युवराज की ध्वज-पताका उतार दी ..कुलदेव रक्षा करें... और उस पताका के स्थान पर एक नई पताका फहरा दी। इस पताका का वस्त्र बड़ा सुन्दर था और रंग भी लुभावना था। मोतियो की किनारी उस पर जड़ी थी। उन मोतियों से अद्वितीय प्रकाश-किरणे फूट रही थी। कुछ देर पर, मैंने देखा कि मोतियों से छूटती ये किरणें मुखरित हो गईं और गम्भीर शब्द-स्वर बन गई। इस स्वर-माला को सुनकर जगती के लाख-लाख प्राणी उल्लसित हो उठे। और दूर-दूर से श्रोता आने लगे।

इसके उपरान्त, पूर्व-दिशा से वेगवन्त प्रभजन आया और अब तो पताका चारो दिशाओ में फहराने लगी। उससे स्रवित सुरो को मानव-जाति ने सुना और नभोमण्डल-से पुष्पवृष्टि होने लगी। ऐसे फूल मैंने आज तक नही देखे! ऐसे स्वर मैंने आज तक नही सुने। उस पताका से जो वाणी गूँजी, उसमें से मुझे इतना स्मरण रहा—'समय आ गया है। समय आ गया है।'

इस नादान तरुणी की वार्ता और इसकी स्वप्न-भगिमा देख कर, मेरा अन्तर अमित रसानन्द से छलाछल भर गया। बोला—'यह तो अच्छा स्वप्न है। इसमें डरने की कोई बात नही।'

'किन्तु, देव, आपने स्वप्न का शेष भाग तो सुना ही नही, मैंने देखा कि लोगो के कोलाहल से मेरी नीद उचट गई है और देखती हूँ कि आप मेरे पास नही हैं। अपनी सेज पर अकेली हूँ। सिद्धार्थ, सिद्धार्थ पुकारना चाहती हूँ पर कण्ठ अवरुद्ध हो गया है। मैं बहुत डर गई।'

'अब तो डर नही लगता?'

'आप जो पास हैं।'

'परन्तु तुम्हारा मुख अब भी म्लान है। भय अब भी छाया है!'

'जी, मुझे स्वप्न का अकेलापन अब भी डरा रहा है। 'समय आ गया है,' मेरे कानों में गूंज रहा है। नाथ, सच कहिए आप मुझे छोड़ कर चले तो न जाएँगे ?'

'पगली हो। तभी तो मै कहता हूँ, अभी तुम्हारा बचपन नही गया। याद है बालापन में तुम्हे उस दिन'....

'आप तो बस !' उसने हथेली से मुँह छिपा लिया किन्तु उँगलियो के छिद्र से मुझे देखती रही। अब भी स्मरण है, उसे गुदगुदा कर मै बाहर खुले में आ गया था।

वह भी मेरे पीछे आई थी। अपना अर्द्धभाग मेरी पीठ पर रखे, खड़ी हो गई। मैं जान गया, उसका भय निःशेष नही हुआ है। कहा—'देवी, शान्त हो, तुम्हारा स्वप्न भ्रम है। और यदि भावी का सकेत भी हुआ तो, क्या भय है ? मै राज महलो मे अधिक दिन नही रहूँगा, यह तो निश्चित् है। सम्भव है, लोक को मेरी आवश्यकता हो। शायद देवो का आसन चलित हुआ हो, शायद अखिल जगत् मेरी प्रतीक्षा कर रहा हो। अवनी-अंबर अपनी भुजाओं में मुझे समेट लेने के लिए प्रतीक्ष्मान हो। सम्भव है, मेरे विराग से तुम्हे और परिवार को असुविधा हो, परन्तु यह स्मरण रखो देवबाला, उससे मेरा, तुम्हारा और जगत् का मगल-श्रेय ही होगा। विगत् कई वर्षों से मैं दुख से मुक्ति पाने का मार्ग ढूंढ रहा हूँ। कितने दिनों से समस्त संसार के लिए सुख का अमृत खोज लाने के लिए ललक रहा हूँ। यदि मै इस सिद्धि को पा सका, तो यह निखिल जगती के लिए होगी। इस दृष्टि से, बहुजन-हित के हेतु हम दो प्राणियो को यदि कुछ दिन कष्ट भी देखना पड़े. तो, मै तो उसका स्वागत करूँगा।'

'मैं भी करूँगी। मै आपदाओं से नही डरती। तुमसे दूर भी नही रह सकती। तुम रहो, फिर चाहे जो रहे, चाहे जो आए, सब सहूँगी।'

'तुम्हारी वाणी आर्य-नारी की शोभा है। रानी, मैंने भोग का अतिक्रमण किया. मैंने राग की सीमाओं को पीछे छोड दिया। हमारे परिजात के विभव-विलास के लिए इन्द्र और शची भी तरसने लगे।....परन्तु यशोधरे सच कहूँगा, कहने पर तुम बुरा मान जाओगी। परन्तु हम उच्च-जन्मा लोगों के इस सुख से क्या सारा संसार सुखी समझा जा सकता है ? व्यक्तियों के निजी सुख-दुख का कोई मूल्य नहीं, जब तक वह सुख-दुख सारे समाज की अपनी समस्या नही बन जाता। मै सामाजिक सुख को लाना चाहता हूँ।'

'अपनी इस खोज में मुझे भी साथ ले चलिए नाथ।'

'नहीं, कठिन तपस्याओं में झुलसना होगा । तुम वह सब सहन न कर सकोगी ।'

'लेकिन यह कैसे हो सकता है कि आप तप-ताप में तपे और मैं इधर बैठी शीत-प्रासाद में हिलोरें लूँ ? क्या आपको मुझ से प्रेम नहीं ? क्या आपको मेरा साथ नहीं सुहाता ?'

'यशोधरे, क्या कहती हो ! तुमसे मोह है, तभी तो तुम्हे भावी संगर में साथ ले जाना नहीं चाहता । मैं अकेला उस कष्ट को सह लूँगा और तुम यहां बैठी, मेरे मंगल की कामना करना । मैं सिद्धि लेकर जल्द ही लौट आऊँगा, यश !'

'नहीं, नहीं, नहीं, !'

'खैर । वह दिन दूर है ।, चलो, तुम्हे सुला दूँ ।'

मैं चला न जाऊँ, यह सोच, वह मेरा हाथ धरे रही और मैं उसे आश्वासन देता रहा । वह लेट गई । धीमे-धीमे नींद की परी उसकी पलकों पर उतर आई और उसके मुँह के बोल अस्पष्ट होते गए । वह फिर से सो गई । मैंने उसके पैरों से फिसला अन्तरीय ठीक किया और हौले से उठ कर फिर बाहर आया । लेकिन जग कर राहुल रोने लगा । मैंने दौड़ कर उसे उठा लिया कि देवी की नींद न टूट जाए और विराग मे विघ्न न आए ।

राहुल मेरी गोद में आते ही हँसने लगा । मेरी ओर देखता रहा । उसकी वह हँसी और उसका वह दर्शन मुझे आज भी ज्यो का त्यों याद है ।

उस समय मेरे मन में एक प्रतिध्वनि उठी थी—'समय आ गया है, समय आ गया है ।'

किन्तु जाने देगा ये ? मैंने राहुल को देखा । वह मेरी ग्रीवा में अपनी नन्ही बाँह डाले मेरा कान पकड़े हुए था । कहीं मैं उसे छोड़ न दूँ !

रात का सन्नाटा गहरा होता जा रहा था । और उसकी गहराई में से काल मुझे पुकार रहा था—'समय आ गया है, समय आ गया है ।'

माता-पिता का क्या होगा ? यशोधरा तो रो-रो कर जान दे देगी ! यह राहु भी बिलखता रहेगा । ये दास-दासी, यह छन्दक, यह कन्थक,....और वह कृशा और वह .. ...

राहुल को मैं झूले में सुला आया । कुछ देर ऊँ-आँ कर वह सो गया । देवी भी सो रही थी । उसके होठो पर विश्वास की यह हल्की हँसी ! अब शायद वह मेरे घर लौटने का सपना देख रही है !

माँ का क्या होगा ? वृद्ध पिता का क्या होगा ?.......मैंने जैसे प्रश्न सामने

पनरे अन्धकार से किया। उत्तर न मिला। उत्तर न मिला।

'तो क्या अमृत की खोज अपूर्ण रह जाएगी ?'

उत्तर न मिला। उत्तर न मिला।

फिर भी मेरा मन कहता था, 'समय आ गया है, समय आ गया है।'

और मानो अंधकार में प्रकाश का उदयन हुआ—'सिद्धार्थ, तुम्ही न कहते थे, व्यक्ति के कष्ट सहने से यदि समाज का कल्याण होता है तो, वह कष्ट श्रेयस्कर है।'

'है तो !' मैंने कहा—फिर भी, वृद्ध पिता, वृद्ध माता, युवती पत्नी, शिशु !

और जैसे एक आँधी उठी ! और जैसे एक तूफान आया ! और जैसे एक ववण्डर जगा। उस गाढ़-नीले अंधकार में से एक वृद्ध आकृति अट्टहास करती हुई, मेरा उपहास करने लगी—'तुम्ही हो, समता और न्याय के ढोंगी ? करुणा, दया, मैत्री और साम्य का यह प्रपंच छोड़ो और सुन्दरियों के भोग में डूबे रहो। तुम्हे क्या मतलब, हम जीएँ या मरें। हम भूखे रहें या बरबाद हो जाएँ। तुम्हारे लिए यह पारिजात है, हमारे लिए वह मसान है। हा....हा....हा....हा....'

'रुको, रुको हे जीव !'

'बहुत रुक लिया। बहुत देख लिया।'

मै उसकी आकृति अब पहचान गया—वही बूढा था, जो उस साँझ मुझे उद्यान-भूमि जाते-समय मिला था। पूछ रहा था—'क्या एक वृद्ध शुद्धोधन के लिए तुम हम जैसे अनगिनती वृद्धों को विस्मृत कर दोगे ? सिद्धार्थ, हरेक वृद्ध तुम्हारा पिता है। हरेक अभागिन तुम्हारी माता है और ऐसे कोटि-कोटि वृद्ध हैं और कोटि-कोटि अभागिनें हैं। स्वार्थी युवराज, जाओ, यह ढोंग छोड़ो, और सुख से अपनी सुगंधित सेजों का रस भोगो। तुम्हारे बस का यह काम नही। तुम स्वयं मृत हो। तुम स्वयं रुग्ण हो। तुम स्वयं बंदी हो। अपने पारिवारिक स्वार्थ को प्रधानता देते, तुम्हे लज्जा नही आती।....दुनिया मे लाख-लाख शुद्धोधन भूखे-नंगे फिरते हैं और केवल नाम-रूप का ही तो अन्तर है ! कितनी-कितनी यशोधराएँ पथ की भिखारिनें बनी भटक रही हैं और कितने राहुल दूध—बूँद भर दूध के लिए बिलख रहे हैं !'

और मैंने देखा, उस दिन उस कुटिया में जो भूखा बिलबिलाता बालक था, वही मेरे सामने खड़ा हो गया है और अपनी तुतली बोली में मुझे पूछने लगा—'क्या मै तुम्हाला लाहुल नही ?'

और फिर वृद्ध का प्रश्न था—'बताओ, क्या मैं तुम्हारा पिता नहीं ?'

मैंने महसूस किया हरेक भूखा वृद्ध मेरा पिता है। हरेक रोगिणी वृद्धा मेरी

माता है और हरेक अर्धनग्न बालक मेरा अपना शिशु है। इनकी रक्षा और सुख का निदान खोज कर लाना ही होगा।

और पुकार आई—'सिद्धार्थ कहाँ हो ? सिद्धार्थ कहाँ हो ? हम नगे हैं। हम भूखे हैं। हम दुखी हैं। हम मनुष्य के बनाए नरक की ज्वाला में झुलस रहे हैं। हमे बचाओ...बचाओ।'

उस पुकार के समान ही सन्तुलित स्वर मे मैंने जोर से चिल्ला कर कहा—'हे पुकारनेहारे मै आऊँगा ! जरूर आऊँगा ! मैं आता हूँ, मै आया.......'

मेरा मन गवाही दे रहा था—'समय आ गया है, समय आ गया है।'

इस कोलाहल ने सबको जगा दिया। यशोधरा भी वातायन में आई और प्रश्नमयी अरुण आँखों में मुझे देखती रही !

पूरब के कुटीर में किसी ने आग लगा दी थी। और वहाँ दूर पर लालिमा दहक रही थी। नीचे पारिजात के नक्कारखाने में शहनाइयाँ बज रही थी।



[२५]

मैंने पूछा—'कौन है ?'

'आज्ञा हो देव ! मैं छन्दक हूँ। आलीन पर सिर धरे, छन्दक ऊँघ रहा था। मेरा स्वर सुन कर, उठ खड़ा हुआ।

'छन्ना, इस समय एक आवश्यक कार्य है। तुम अश्वशाला जाकर मेरा अश्व ले आओ।' कुछ न कहने पर भी छन्दक सब कुछ जान गया था। वह भारी मन, भारी पैरों जा रहा था—'प्रभु के महाभिनिष्क्रमण का मुहूर्त्त आ पहुँचा है।' इतना—धीमे कह, वह सिसक उठा। मै बाहर आया। उसके कंधे पर हाथ रख, बोला—'रोता है पगले !' और मेरी आँखे भी छलछला आई।

अपने कमरे से कंथक की कंचन-वल्गा और ज़रूरी सामान ले वह चला गया। अश्वशाला में छन्दक ने सुगन्धित स्नेह से आलोकित प्रकाश में देखा महाश्व कंथक अपनी स्वप्नावलियों में लीन था। उसके सिर पर सुन्दर वस्त्र का वितान तना था। और जपा-पुष्प के गजरे उस पर लहरा रहे थे। छन्दक ने घोड़े को जब बहुत कसा तो, घोड़े ने सोचा, 'आज यह मुझे बहुत कस रहा है। और दिन तो ऐसा नही करता, आश्चर्य है ! सम्भव है, आज स्वामी महाभिनिष्क्रमण कर रहे हो।' और इस विचारानुभव के हर्षातिरेक मे कंथक ज़ोर से हिनहिनाया।—बाद में मैंने जाना था।

कथक का यह उद्घोष नगर भर को जगा देता, किन्तु देवो ने इस महाध्वनि को अवरुद्ध कर लिया। तत्पश्चात् मैंने सोचा—'जब तक छन्दक अश्व लिए आता है, मैं तनिक राहुल को एक बार देख लूँ।' और मै अपने कक्ष से देवी के कक्ष की ओर चला।

धीमे मैंने यश के शयन-गृह का द्वार खोला। गंधित तेल-दीप की मंद आभा गुञ्जरित थी। यशोधरा अपनी सुमन-सेज पर लेटी थी। उसकी साँसो की गति से उनका वक्ष उठ-गिर रहा था। सचमुच उसे गहरी नीद आ रही थी। वह अपना

एक स्तन राहुल के मुख में दिए थी। रोते-रोते दूध पीते, वह सो गया था। देवी की बाँह राहुल को अपने आंचल की छाया में लिए थी।

द्वार-देहली पर मैं रुक गया और वहीं से दोनो को देखता रहा। आनन्द से मेरे नेत्र उन्मीलित हो गए। फिर आगे बढ़ा। यश का दीपित वदन देखा। मन को तृप्ति मिली। हाथ उसकी ओर बढ़ा, किन्तु अन्तर से आवाज़ आई—'यह क्या करते हो सिद्धार्थ ? यह जाग जाएगी तो सिद्धि का स्वप्न अधूरा रह जाएगा !'

राहुल का मुख एक पल देख लेने की चाह उठी, परन्तु माँ के पयोधरों में छिपा उसका नन्हा-सा चेहरा मैं न देख सका। देवी का दूसरा हाथ उठाए बिना मैं राहुल को नही देख सकता था। और हाथ हटाने पर यश की नीद अवश्य उड़ जाती। कही यह उस रात की तरह स्वप्न से चौंक उठी तो....सब धरा रह जाएगा। मैं दबे पग पीछे लौटा। बाहर से धीमा बुलावा आया—'स्वामि !'

'आया, छन्ना !' मेरे मन में द्वन्द्व था। यश के शयन-गृह के बाहर, मैं विमूढ-सा खड़ा था। फिर विचार उठा, अब जाने कब लौटूँगा। यशोधरा से अन्तिम विदाई लेनी चाहिए और बेटे का मुँह भी केवल एक बार देख लेना चाहिए। यश को जगाऊँ, न जगाऊँ ? इन दो विचारो का तुमुल संगर चलने लगा। नीचे से फिर पुकार आई—'नाथ !'

'आया, छन्ना !' यश की शैया की ओर मैं झपटा। उसका गात छूने ही वाला था कि एक अजाने विचार ने रोक लिया। नैपथ्य मे जैसे, अभागिन खिल-खिलाई—'मैं तुम्हारी यशोधरा नही ?' और कुटिया के बालक का वह चेहरा कहने लगा—'मैं भी तुम्हाला लाहुल हूँ।' अन्तर के अन्तराल में प्रतिध्वनियाँ गूँजी—'समय आ गया है ! समय आ गया है !' फिर मैं एक पल भी न रुका। देहली पर खडे होकर मैंने अपनी हृदयेश्वरी से मन ही मन विदा ली। लोचनो मे, दो बूँद रोके, न रुके। टपक ही गए। एक राहुल के लिए, दूसरा उसकी माँ के लिए !

कंथक मेरे चरणो को अपने मुँह से सूँघने लगा। बडा बेचैन था वह। मैंने उसकी पीठ थपथपाई—'ठीक है, ठीक है।' छन्दक ने उसकी पूँछ थाम ली और मैंने कथक को एड़ लगाई। मार्ग मुझे सूझना नहीं था, क्योंकि मेरी आँखो मे आँसुओ की जालियाँ बह रही थीं। उस दिन के खारे अश्रु-जल का स्वाद मेरे होठों पर अब भी ताजा है।

अजिर के प्रस्तर-निर्मित कुट्टिम पर जब कथक के पैर पड़े तो, उसकी टाप

पारिजात के कक्ष-कक्ष में गूँज उठी। मुझे लगा, गजब हो गया। छन्दक ने पीछे-ऊपर देखा—'कुमार, देवी के कक्ष की खिड़की खुली है। आलोक फैला है। ऐसा प्रतीत होता है, वे जाग गई हैं। देव, सुनिए राहुल का महीन रुदन आ रहा है।'

कंथक भयंकर वेग से उड़ा जा रहा था। अर्ध-निमिष मैंने पीछे देखा, राज-झरोखे मे एक छाया खड़ी थी, केश उसके हवा में उड रहे थे—'लौटो सिद्धार्थ, लौटो... सि....द्धा....र्थ....कायर !'

छन्दक ने कहा—'स्वामी, खिड़की बंद हो गई है !' मै चुप रहा । कंथक पवन बन रहा था। मैं उसकी रास खीचे रहा।

आषाढ़ी पूर्णमासी की देवी की मौलि-वेणी खुली थी। आकाश में घुमड़ते-मेघों के पर्दे-पीछे से निकलने की राका-शशि कोशिश कर रहा था। कपिल-वस्तु-नगरी—नवविवाहिता-सी सजी, निद्रा में निमग्न थी।

कंथक राज-रथ्या पर आ गया। उसकी टापो से दोनों ओर के भवन गूँज रहे थे। मैं संविग्न था, कही प्रहरी न जाग जाएँ। सामने सघन-तमिस्रा थी, मेघ-दूतो के कारण।

पहले सघन तमा थी, सहसा, अब पंथ प्रकाशित हो गया। छन्दक ने कहा—'कुमार, कंथक की टाप ध्वनि-रहित हो चली है। नाथ, जहाँ-जहाँ उसके पैर गिरते हैं, वहाँ-वहाँ, देवगण पहले ही अपनी हथेलियाँ रखते जाते हैं। स्वामि, सहस्र-सहस्र देव मशालें लिए आपके आगे हैं। उतने ही पीछे हैं। उतने ही दाएँ और उतने ही बाएँ हैं। देव की जय हो !'

अब मैं अपना मन बस मे कर पाया। नगर-द्वार तक हम पहुँच गए। मैंने सोचा, यहाँ तो पिताजी ने सहस्र धनुर्धारियों का पहरा बिठा रखा है कि मैं छिटक न जाऊँ। द्वार बंद है। इतना भारी है कि कई सौ लोगो के बल से ही खुलता है। मैंने कंथक की गति ही से जान लिया, वह भी चिन्तित है । निश्चय किया—'यदि द्वार बद रहा, तो मै कथक को ऐड़ लगाकर नगर का परकोटा लांघ जाऊँगा ।'

छन्दक ने सोचा—'यदि कपाट न खुला, तो मैं स्वामी को अपने कंधे पर बिठा लूँगा, कंथक को अपनी बगल में उठा लूँगा और दोनो को लिए दीवार के पार हो जाऊँगा !'

और तभी कंथक ने सोचा—'द्वार रुद्ध रहा तो, मैं युवराज को ऐसे ही आरुढ़ रहने दूँगा। छन्ना पूँछ थामे रहेगा और मैं एक ही छलांग मे उत्तुंग द्वार के पार पहुँच जाऊँगा।'

लेकिन द्वार स्वयमेव खुल गया ! कंथक अपनी समगति से सरपट दौड़ा जा रहा था। नगरान्त पर वन-पथ आ गया। मन में मोह उठा—एक वार कपिलवस्तु के दर्शन तो कर लूँ। मैंने अश्व को रोक लिया। उनका मुँह फिराया। प्रसुप्ता कपिला की ओर मैंने अन्तिम दृष्टि डाली। टकटकी लगाकर देखता रहा ! एक उसाँस रोकने पर भी पिंजरे से वाहर आ गई—'छन्ना, अपनी इस जन्मभूमि से अन्तिम विदा लेता हूँ। इस वेला जिस प्रकार नभ में मेघ छाए हैं, उस प्रकार मेरे अन्तर्नभ में भी द्वन्द्वात्मक विचारों का वादल-दल उमड़ रहा है। सौम्य, शारदीया आएगी, और पूर्णेन्दु अपनी सोलह कलाओ में खिल उठेगा। मेरा मन कहता है आर्य, उसी भाँति मेरा अन्तस्तल सत्येन्दु की ज्योति से सिद्धि पाएगा। सम्यक्-ज्ञान जव प्राप्त हो जाएगा, अपनी इस मातृभूमि में फिर आऊँगा मैं। तव पिताजी के पैरों पड़ूँगा और यशोधरा से भी क्षमा माँग लूँगा ..और जव तक मैं जन्म और मृत्यु के पार शाश्वत-जीवन के चरम-विंदु को न देख लूँगा, तव तक कपिल के नाम से सम्वोधित इस पुरी मे प्रवेश न करूँगा।....छन्दक चलो अव हम राजगृह के मार्ग पर चलें।'

हम आगे वढ गए।

कुछ दूर जाने जाने पर मैंने देखा कि रस की रागिनी गाता हुआ एक व्यक्ति सामने से आ रहा है। वह कंथक के सम्मुख हवा में अधर खड़ा हो गया और कहने लगा—'रुको सिद्धार्थ ! आगे न जाओ, क्योंकि आज के सातवें दिन राज्य-चक्र तुम्हारे कर-कमलो में आएगा। और तुम सप्त-द्वीप नौ-खण्ड पृथ्वी के प्रति-पालक वनोगे। अव लौट जाओ !'

'कौन हो तुम ?' मैंने पूछा।

'मैं वसवत्ती मार हूँ।'

'मार, मैं जानता था कि राज्य-चक्र मेरे सामने प्रकट होने वाला है। परन्तु मेरे मन में सार्वभौम राजत्व की कोई कामना नही है। मैंने दस पारमिताओं की पूर्ति न इन्द्रासन पाने के लिए की, न ब्रह्म या चक्रवर्ती का पद पाने के लिए की है। मैं तो धर्मचक्र-परिवर्तन करूँगा।....जिस दिन लोक सेवा के पंथ पर चलते-चलते, मेरे मानस में स्वार्थरहित जन-सेवा का अटल निश्चय स्थिर हो जाएगा, जिस दिन मैं जरा और मरण के पार मनुष्य को ले जाने का मार्ग निश्चित कर लूँगा उस दिन अवश्य मुझे बुद्धत्त्व की प्राप्ति होगी। मार, मैं सम्राट् या चक्रवर्ती वनना नही चाहता, मुझे राज-चक्र नही चाहिए, मैं धर्म-चक्र धारण करूँगा। तू मुझे जो प्रलोभन दे रहा है, वह मुझे अपने मार्ग से विचलित न कर सकेगा।

मुझ में देवत्व के प्रति कोई आकर्षण नही है। मैं देव बनना नहीं चाहता, मैं ईश्वर भी बनना नही चाहता। मै मानव बनना चाहता हूँ कि मानवमात्र की सेवा कर सकूँ।'

तब मार मुँह नीचा किए चला गया। उसने शायद सोचा होगा, कि इसे अवसर देख कर अपने बस में करूँगा। आगे ज्यो ही इसके मन में पहली बार बुराई आएगी, त्यों ही मैं इसे पकड़ लूँगा।

हम बढ़ते गए। उस रात हमने तीन राज्यों की सीमाएँ पार की। छन्दक कहता था, सुषमाशील समय था वह! दिशा-मण्डलों से स्वर्गीय संगीत की ध्वनियाँ आ रही थीं, मानो अड़सठ लाख वाद्य-यंत्र एक साथ बज उठे हो, मानो झंझा-कर मेघ सागर पर उल्का के आरे चला रहे हों, मानो युगंधर-चट्टानों से महा-समुद्र का आलोड़न टकरा रहा हो!

वन-पंथ का अंत आया। नदी का कगार दिखलाई पड़ा।

'इस सरिता का क्या नाम है छन्ना?'

'देव, यह अनोमा है।'

'तो मेरा निष्क्रमण भी संसार मे अनोमा के नाम से जाना जाए।' इतना कह कर मैंने घोड़े को ऐंड लगाई। कंथक उछला और आठ-उसभ चौड़ी सरिता को पार कर, दूसरे तट पर खड़ा हो गया। तट-प्रदेश की सिकता रजत-पत्र-सी चमक रही थी। मैं अश्व से उतर पड़ा। कुछ कहने से पूर्व, मन रुद्ध रहा। कैसे कहूँगा छन्दक से कि तुम लौट जाओ अब!

छन्दक समझ गया—'नाथ!' कहते रो पड़ा।

'हाँ, छन्दक अब तुम मेरे ये वस्त्राभूषण और कथक को लेकर लौट जाओ। मै विराग की शरण जाऊँगा।'

'तो, मुझे भी ले चलिए! मैं भी विरागी बनूँगा। आज तक आपने मुझे अकेला नहीं छोडा।'

तीन बार मैंने सौम्य छन्ना को समझाया। तीन बार ना किया। तब कही मैं उसे लौटने के लिए राजी कर सका। वस्त्र और आभूषण मैंने उतार दिए। और सोचा यह केश-कलाप साधुओं को शोभा नही देता। इसे मैं अपनी तलवार से काट देता हूँ। तब अपने कुछ केश छन्दक की ओर बढा कर मैंने कहा—'यह कुंतलराशि यश को आकर्षित करती रही है, इसे तुम मेरी कुशल कह कर, देना।

वह कुछ अधिक पूछे तो, उसके मन की सुकुमारता का ख्याल कर मौन रह जाना। भिक्षु को प्रसाधन से क्या प्रयोजन ?'

मैंने कुछ केश ऊपर उडाते हुए कहा—'यदि मेरा बुद्ध होता निश्चित है तो ये केश वायुमण्डल में विहरें, नहीं तो, भले भूमि पर गिर पड़ें।' केश अधर रह गए।

कंथक की रास मैंने छन्ना के हाथ में दे दी—'सब से कहना, मैं सकुशल हूँ।'

अब तक कंथक हमारी बातें सुन रहा था। चुप था। अब मुझसे बिछुड़ने का समय आया तो वह मुँह से शब्द तक न निकाल सका। जैसे उसका हृदय फटा जा रहा है। वह पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर पडा और जब तक मैं अपनी गोद में उस का सिर रख लूँ, तब तक उसने अश्रुमयी-दृष्टि से मेरी ओर देखते-देखते सदा के लिए विदा ले ली।

मेरा कण्ठ भरा था। छन्दक तो वहीं नदी की बालू में लोटने लगा—'नाथ, मुझ से तो यह कथक ही अधिक भाग्यवान है, स्वामी से बिछुडने के पूर्व ही इसने अपने प्राणों का त्याग कर दिया। परन्तु मेरे ये पापी प्राण नही निकल रहे हैं।'

मैंने देखा, धैर्य की परीक्षा है। अपने पैरो पड़े छन्दक को उठा कर मैंने हृदय से लगा लिया—'बालक न बनो आर्य ! ससार में किसका साथ सदैव रहा है ? आज हम सग रह भी लेंगे तो, कल मृत्यु हमें जुदा कर देगी। इसके पूर्व कि मौत हमें अलग कर दे, हम खुद ही अलग क्यो न हो जाएँ। और हम-तुम तो फिर मिलने वाले हैं। कुछ ही दिन की बात है। ज्ञान की मशाल लेकर मैं जल्द लौट आऊँगा। तुम सबसे जी जुडा कर मिलूँगा। हम फिर सांध्य-वेलाओं में उद्यान-भूमि की सैर को जाएँगे। अब जा, मन को बोझिल न होने दे। मेरा यह हार अन्ना को मेरी स्मृति-रूप में देना। और मेरा प्रणाम कहना। महाराज का ध्यान रखना !'....

रोता, कलपता, चीखता छन्दक लौट पडा।

मैं उसके उठते पैर देखता रहा। पैर जब ओझल हो गए तो, अनोमा के उस रेतीले तट पर अंकित उसके चरण-चिह्न खोजता रहा। 'मुझे नहीं ले गए अपने साथ'—उसका क्रंदन नदी-कगारो के आर-पार अपनी परिछाइयाँ डाल रहा था। और धीरे-धीरे ऊँचा उठता हुआ, मानो पेड़ो की चोटियो पर जा बैठा !

अब मेरे पास एक ही चीवर रह गया था। उसके छोर से छान कर पत्तो

के एक द्रोण में मैंने जल-पान किया। कुछ देर विश्राम लेकर आगे बढ़ना चाहता था कि दो वृद्ध-तापस आते दिखाई दिए। उनकी आयु कई सौ वर्ष की होगी। वे बोले—'हम तुम्हे ही खोजते आ रहे है। हमें ज्ञात था कि आज के दिन अनोमा के इस कुँआरे जल-दर्पण में तुम अपना रूप निहारोगे। सच, सिद्धार्थ तुमने बड़ा त्याग किया है। लो, भिक्षु की ये आठ आवश्यक वस्तुएँ।'

मैंने सवन्यवाद ग्रहण की—'पूज्यपाद, आप कौन हैं?'

'अरे, हमे नही पहचाना गौतम? यह है महा ब्रह्मा और मै हूँ घटिकार। हम बुद्ध कस्सप काल में तुम्हारे मित्र रहे हैं।'

मैंने उनकी वार्ता सुन ली। मन मे संशय था, बुद्ध कस्सप हुआ भी या नही, कौन जाने?



[२६]

मैं चलता गया। राजगृह के संस्थागार केतु नजर आ रहे थे। मैंने नगर में जाना उचित न माना। उससे दूर ही रहना रुचिकर प्रतीत हुआ। और अभी तो मुझे अपनी पुरी छोड़े कुछ ही काल बीता था। नगर-पुरो से मुझे अमोह हो गया था। मुझे तो सीधा-सादा ग्राम्य-जीवन ही इष्ट है। वैसे स्वयं अपने लिए तो मैंने वन में रहना ही हितकर समझा, क्योकि इस क्षेत्र मे, अदूर ही कई संत दार्शनिको के आराम और आवास थे।

राजगृह से इधर अनुपिया नामक आम्र-निकुंज है। मैंने परम एकान्त यहाँ पाया। और यही रहने का निर्णय किया। नगर में जाना तो, इस समय ठीक भी न था। सम्भव है, पिताजी के भेजे चर घूम रहे हों, आज नही कल वे मेरे लौटने पर ज़ोर दें और यो भाँति-भाँति के विघ्न पहुँचाएँ। एकान्त-वास स्वयं एक साधना है। फिर जो सिद्धि का साधक है, उसके लिए तो लाभकर है कि वह वन में रहे। अनुपिया का वह स्थल आज भी मेरे सम्मुख झलक आया करता है। उसके लिए मेरे मन में बड़ा राग है। कितनी मनोरम भूमि है वह! साधु जनो की गति के समान सीधी अमराइयो की रेखाएँ परस्पर मिल कर मानो भूमिति के प्रश्न हल कर रही हैं। घर छोड़ने के उपरान्त पूरा एक सप्ताह मैंने अनुपिया मे व्यतीत किया। भोजन की सुध नही थी। कही जाने-आने की इच्छा नही होती थी। मैं तो इसी आनन्द में मग्न था कि चलो, घर-बार का बन्धन छूटा! बडे सुख में था कि भूख लगने पर दो एक आम खा लेता। और कल-कल करते स्रोत का जल पी लेता। चिन्तन-मनन चलता और कब कितना काल आया-गया इसकी स्मृति न रहती। ऐसी गणना करे कौन? किस लिए?

पूरे सात दिन आम्र फल पर निर्वाह किया, तो मन में पकवान्न खाने की रुचि हुई। स्वाद ने जब बाधा पहुँचाई तो मैं नगर की ओर चला। हाथ में भिक्षापात्र था। चला जा रहा था, हृदय कहीं और था, मन कही और था और पैरो की गति-दिशा तो वे ही जानें!

इसके बाद की कथा उत्पलवर्णा के शब्दों में यों है—

"नगर में कुहराम मच गया। झुण्ड के झुण्ड नर-नारी उसे देखने के लिए घरों से दौड़ पड़े। मैं अपने प्रांगण मे तुलसी-पूजा कर रही थी। भाभी नीचे दौड़ी हुई आई—'उत्पल देखो-देखो बाहर कैसा सुन्दर युवा सन्यासी आया है!'

मैं उनके पीछे-पीछे बाहर आई। देख कर चकित रह गई। स्त्रियाँ परस्पर उस युवा संन्यासी के रूप, कुल और शील की चर्चा कर रही थी। भाभी ने उसके पात्र में कई व्यंजन डाल दिए। मै भी दौड़ कर भीतर गई और आज भोर ही मैंने अपने हाथों जो मिष्ठान्न बनाया था वह इस तरुण तपी के लिए ले आई—'लो' मैं आगे न कह सकी। न उसकी नजरें उठी, न मेरी पलकें झुकीं। मैं तो लोक-लाज छोड़ कर उसे देखती ही रह गई!

वह चला गया। भाभी बोली—'नया-नया साधु है। घर छोड़े अधिक दिन क्या हुए होंगे....तुम्हारा ध्यान कही और है?'

बोली मैं—'काश यह तपी गृहस्थ-युवा होता! इस वय मे इसे कौन-सी लगन लगी हैं कि यों जोग रमाए बैठा हैं।'

फिर हम दौड़ कर अपने वातायन में आईं और बड़ी देर तक उसको लौटते हुए देखती रहीं। घर-घर से प्रमदाएँ, बालाएँ और युवतियाँ उसके भिक्षापात्र मे खाद्य पदार्थ डालती जाती थीं। सारी सामग्री का मिश्रण हो रहा था, मैं सोचती रही ये पदार्थ अब यह कैसे ग्रहण कर सकेगा!

वह चला जा रहा था और लोगों के समूह उसके पीछे-पीछे जा रहे थे। झरोखे खुल गए, खिड़कियों के पर्दे हट गए और छज्जोवाली कुलवधुओं की आँखे पंथ पर अटक गई। और नागरिक थे कि उसकी राह रोक रहे थे। कोई अपनी आयु पूछता। कोई अपना भाग्य पूछता। कोई अपना आगम पूछता।

वह चला जा रहा था और उसके पीछे लोग चले जा रहे थे। अधरों पर वंकिम मुस्कान थी। लोचनों में अजब एक चमक थी। जो देखता, देखता रह जाता। बारम्बार उसे देखने की प्यास उमडती। जिसने नही देखा था, वह पछता रहा था, और 'किस दिशा मे वह गया है?'—प्रश्न करता था। वृद्धाएँ लाठी का सहारा लिए और बहुओं का हाथ थामे उसका पथ रोकने लगीं—'बारह बरस हुए मेरी इस बहू की गोद सूनी है। कोई मंत्र बताओ, कोई जन्त्र, कोई तन्त्र बताओ।'

लेकिन उन्हें वही छोड़ कर, रास्ता काट कर तरुण-तपस्वी चला जा रहा था। फिर आवाज़ आती—'महाराज, ऐसी कोई सिद्धि बताइए, जिससे लोहा सोना हो जाए। दारिद्र्य के चंगुल में फँस कर माँ अंधी हो गई है, पिता तो पागल ही

हो गए। और ये दस-बारह जो भाई-बहन हैं, पथ के भिखारी हो रहे हैं।'...

फिर हमने सुना। महाराज बिम्बिसार के कानों तक बात गई—'देव, एक युवा संन्यासी नगर-पथ से जा रहा है। सिर मुंडा है। एक वस्त्र पहने और एक ओढ़े हुए है। हाथ में पात्र है। जो कुछ मिलता है, वह उसी में ग्रहण कर लेता है। कोई राजपुत्र मालूम होता है नाथ! यों, तभी न सभी खाद्य उसके पात्र में मिश्रित हो रहे हैं। देव, अत्यन्त सुन्दर है वह! अवश्य वह देवपुत्र है नागलोक का कोई निर्वासित राजकुमार है! अलका के आँगन में खेलता हुआ कोई सुरपुत्र पथ भूलकर आ निकला है! राजगृह धन्य है, धन्य हैं हमारे भाग्य कि उसके दर्शन हुए।'

महाराज बिम्बिसार बोले—'कहाँ है भो, वह देवपुत्र? मै भी देखूंगा उसे।'

तब तक बाहर शोर सुनाई दिया—'जरा रुको साधु! हमें मंगल-कवच देते जाओ। हमें रक्षा-सूत्र दो। युवा सन्यासी की जय!'

महाराज अपने महलो से उसे देखते रहे। फिर दूत दौडाए—'दौडो! पता पाओ, कौन है यह मौन विरागी? कहाँ से आया है यह? क्या नाम-गोत्र है? कहाँ ग्राम-धाम है?'

राजा ने अंत पुर में जाकर रानी को सन्देश सुनाया। उधर दूत दौड़ते हुए वहाँ पहुँचे, जहाँ पाण्डव-गिरि पर, आम्र-छाया में वह भिक्षु अपना पात्र लिए बैठा था। उसे आहार के लिए प्रस्तुत देख, वे दबे पाँव लौटे और एक ओर खड़े होकर प्रतीक्षा करने लगे।"

भिक्षा लिए नगर से जब मैं लौटा, तो मेरा मन ग्लानि से भर गया था। कैसे-कैसे अन्धविश्वासी हैं हमारे लोग! कितना अज्ञान! कितना तमस्! एक ओर इकहरा वैभव, दूसरी ओर दुहरा दारिद्रय!

मैंने अपने पात्र की इस मधुकरी को देखा—विविध प्रकार के खाद्य थे। किसी का जल और किसी का तेल, आपस में रल-मिल रहा था। और इसी मे दूध और खटाई, इसी में लवण और मिठाई! मुझे तो उबकाई आने लगी। खाना तो दूर रहा, मेरे लिए उसे देखना भी दूभर हो गया। तन तो क्षुधा से दुखी था ही, अब मन भी दुखी हो गया। आम्र-पल्लवो से मानो एक मर्मर् उठी—'सिद्धार्थ, क्यो व्यर्थ में काया को कष्ट दे रहे हो? यह कण्टक-पथ तुम्हारे लिए नही है। कहाँ तुम—क्षुद्र से क्षुद्र जाति के लोगो का दिया यह भोजन लेकर अपने

भाग्य को कोस रहे हो, कहाँ यशोधरा राजपरिवार की रमणियो के बीच राजसी आहार ग्रहण कर रही होगी !'....

नही–नही, मैंने कहा। मुझे यश का चेहरा आज, आठ दिनों में पहली बार याद आया। आँसुओं से भरा हुआ मुख ! रोते-रोते रतनारी हो गई अँखियाँ ! अश्रु से घुले अधर ! वह भी भूखी होगी। अपनी हठ में वह एक है। दास-दासियाँ समझाते हार गई होगी, पर उसने दाना मुँह से न छुआया होगा।.... लेकिन मैं तो संन्यासी हूँ। मेरा यशोधरा से क्या लेना-देना !

पात्र सामने था। उससे एक अजीब गंध आ रही थी। फिर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे यह गंध मुझे कह रही है—घर छोड़ने को तुझे किसी ने न कहा। तू अपने निश्चय से निकला है। गंध और स्वाद से तेरी मित्रता नही, शत्रुता नही। रस से तुझे क्या प्रयोजन ? तुझे तो सिद्धि पाना है, ज्ञान पाना है।....और शूद्रों का भोजन देख कर तुझे घृणा हो आई ! तेरा वह समत्व कहाँ गया ? साम्य का वह दावा क्या इतनी जल्दी तिरोहित हो जाएगा ? सबका भोजन तेरे लिए समान है। तूने प्रेमभाव न देखा, पदार्थ-भाव मे उलझा है। शूद्रो के घरो की वे बहू-बेटियाँ कितने स्नेहपूर्वक भिक्षा दे रही थी। तूने उनका दान देखा, उनकी भावना नहीं देखी। और राजमहल के नीचे से होकर तो तू खाली ही लौटा। वहाँ प्रेम नही, भावना नही, सम्मान नही, दान नही !

मेरी आँखें खुल गईं। सन्तोषपूर्वक मैंने भोजन किया और अपने उसी प्रिय झरने का जल पान किया। तदुपरान्त स्वस्थ होकर, आसन लगा कर बैठ गया।

राजा का दूत प्रकट हुआ और उसने मुझे अपना मन्तव्य बताया। मैंने स्पष्टतया अस्वीकार किया राजप्रासाद में जाना—'भद्र, हम साधुओं को महलों से क्या काम ? अपने राजा से कह देना, हमें क्षमा करे और हमारी साधना में अवरोध न लाए।'

दूत के लौट जाने पर संध्या-समय महाराज बिम्बिसार स्वयं पाण्डव-पर्वत आए। उनकी पटरानी भी साथ थी। दोनो ने, यह जान कर कि मैं उनके मित्र शुद्धोधन शाक्येन्द्र का पुत्र हूँ, मुझे बहुतेरा समझाया कि मैं लौट जाऊँ और यदि न लौटूँ तो कम से कम उनके किसी भवन में रह कर अपनी साधना पूरी करूँ। मुझे रानी-राजा के इस प्रस्ताव पर हँसी आई। भवन में रहना था तो, यहाँ क्यो आया ? मैंने स्नेहपूर्वक उन्हे विदा कर दिया। फिर भी जाते-जाते राजन् यह वचन लेता ही गया कि जब मेरी साधना पूरी हो जाए तो अवश्य मैं राजगृह लौटूँ और उनकी इस पाटपुरी में अपना एक विहार बनाऊँ।

अनुपिया की रम्य अमराइयो में मेरे दिन बीतने लगे। मधुकरी के लिए मैं सप्ताह में दो एक बार ही नगर में जाता था। एक तो मैं आस्वाद पर नियंत्रण चाहता था, दूसरे नगर मे मेरा मन भ्रमित न हो जाए, मुझे भय था। उत्पलवर्णा मेरी ओर खिंची जा रही थी, यह तो मै पहले ही दिन जान गया था, जब कि भिक्षा देते उसके हाथ काँप गए थे और पलक झुके रह गए थे! इस जाल से मै रक्षित रहना चाहता था इसलिए मुझे अपना अरण्य-वास ही श्रेयष्कर लगा। मैंने उत्पल के मुहल्ले तक मे जाना बंद कर दिया, जब वह उस दूसरे मुहल्ले मे, जहाँ मै भिक्षार्थ जाया करता था, अपने भैया के घर आकर रहने लगी, तब मै उसे दूर से ही देख कर, बिना भिक्षा माँगे पथ से गुजर गया। फिर मेरे कानों मे उसका गीत-स्वर आया—'ओ पंथी, ओ संन्यासी मुझे छोड़, मत जा!'

मैंने निर्णय किया, अब इस राजगृह को ही छोड दूँगा।

दूसरे दिन, मैं नदी से स्नान कर लौट रहा था कि मैंने पथ पर जाता एक विशाल अजा-दल देखा। अजपाल उसके पीछे-पीछे आ रहा था, मैंने उसे पुकारा —'भद्र!' इस पुकार पर उसने इस हेतु ध्यान न दिया कि 'भद्र' शब्द का प्रयोग उसके लिए तो नही हो सकता है। फिर पूछा, 'भाई यह रेवड़ कहाँ जा रहा है?'

वह बोला—'महाराज बिंबिसार एक बहुत बड़ा जगन कर रहे हैं, उसी में बलि देने के लिए, यह पशु-दल लिए जा रहा हूँ।'

मै विस्मित रह गया! धर्म-धरा पर यह रक्त-प्रवाह! मैं यह अनाचार न होने दूँगा। मैंने कहा—'बन्धु अजपाल, मुझे भी अपने साथ ले चलो। आज मैं भी राजा का यज्ञ देखूँगा' यों कह, मैं उसके पीछे हो लिया।

कुछ दूर जाने पर, मेरी नज़र एक नन्ही प्यारी भेड़ पर पडी, वह बहुत छोटी थी, थकी थी, लावा उगलती धरती पर उससे चला नही जाता था। पीछे आती भेड़ें उसे रुकी देख कर सींग मारती थीं। और यों उसे आगे बढने का संकेत देती थीं। जब मैंने यह देखा कि यह तो पिछले एक पैर से लँगडी भी है, मेरा मन अश्रु-विभोर हो गया। मैंने उसे अपने कंधे पर उठा लिया और चलने लगा। दूसरे कंधे पर गीला उत्तरीय पड़ा था। भेड पहले तो बड़े मधुर स्वरो में मिमियाई, फिर चुप होकर, मेरे मुंडित माथे पर अपना रोम-राजित सिर रखे ऊँघने लगी।

भेड़ के इस स्नेह-सम्पर्क से मुझे ऐसा सरस आनन्द मिल रहा था, मानो मैं राहुल को लिए जा रहा हूँ। मार्ग लम्बा था। बालू तप गई थी। मुझे उन

राहो पर चलने का अभ्यास न था। पगतलियो में छाले पड़ गए और प्रत्येक कदम भारी मालूम होने लगा, एक-एक अंगुल ज़मीन सौ-सौ योजन लगने लगी। फिर भी, कोई निश्चय था कि अपने साथ वहाए जा रहा था।

उस दिन हसिनी के लिए देवदत्त को वैरी बनाना पड़ा। आज इस पंगु भेड़ के लिए जाने किस-किस से रार मोल लेनी होगी, कुछ भी हो मैं अपने विचार पर अचल हूँ। यह हत्या कभी न होने दूँगा !

आगे की कथा उत्पलवर्णा के मुंह से सुनिए—

"भाभी, याद है उस दिन वह जो तरुण तपस्वी हमारे द्वार पर आया था ? कल मैं देवी-पूजा से लौट रही थी कि पौर-द्वार पर अजा-पशुओ की भारी भीड़ देख कर, रुक गई। अजपाल के पीछे-पीछे वही तपस्वी आ रहा था। और भाभी, तुम्हे मैं क्या वताऊँ, मैं यह देख कर ठगी रह गई कि उसके कधे पर एक पशु-छौना ऊँघ रहा है। दूसरे पर एक भीगा वस्त्र पड़ा है। उसकी कनक-देह से अद्भुत कांति प्रभासित हो रही थी।

उसने मुझे देखा, जैसे न देखा हो ! मैंने ही साहस कर कहा—'सन्यासिन्, यह क्या भेष वनाए हो ?'

वह मुस्कराया। मैं धन्य हो गई। फिर पहली वार मैंने उसके वोल सुने—'कल्याणि ! राजा के यज्ञ में यह पशु-धन अर्पित होगा। मैं इस सहार-लीला को रोकूँगा।'

मैं मन ही मन उसकी सनक पर पहले खीझी. फिर रीझ गई। कुछ भी हो, यह अपनी लगन का पक्का है। पूछा—'विरागि, तुम्हे सिह-द्वार मे कोई प्रविष्ट भी होने देगा ?'

भाभी, उसने इस प्रश्न को जानो अपमानजनक जाना। मेरी ओर घूर कर ऐसे देखा ! ऐसे....ऐसे !

जव वह कुछ वढ गया तो मैं भी अनति दूर रह, उसका अनुसरण करने लगी। मेरा कौतूहल मुझे कह रहा था कि यह योगी आज जरूर चमत्कार दिखलाएगा।

आगे-आगे पशु-दल, पीछे-पीछे अजपाल और उसके पीछे छौना उठाए इस तरुण विरागी को देखकर नागरिक दिग्मूढ रह गए ! उनके नाना कार्य कलाप स्थगित हुए। ऊँचे स्वर में वात करते, आदान-प्रदान करते व्यापारी निर्वाक् इस तापस को देखने लगे। शीश पर एक गगरी और दूसरी उठा कर, उस पर रखने जा रही थी कि पनघट की पनिहारिनें चित्र-लिखित रह गई। कारीगरों के हाथों

से कल छूटे। लोहार के हाथों उठा हथौड़ा, उठा रह गया। और वह यह विचित्र जुलूस देखने लगा। स्वर्णकार सोने का तोल भूला। ग्राहक मोती का मोल भूला। पिंजरे का शुक पंछी अपने बोल भूला। क्रीड़ारत बालक अपना गोल भूला। सिंगारवतियाँ कंगन में कील देने जा रही थी कि वातायन-ओर झपटी, तरुण के तेज को निहारती रही। हमारी मामी को तो जानती हो। कितनी स्थूल है उनकी देह, गठियावात से जकड़ी हैं, कभी खटिया छोड़ती नही, उन्हें भी मैंने झरोखे में झाँकते देखा!....कुलवधुएँ परस्पर वार्तालाप कर रही थी—'सखि, यह युवा संन्यासी कभी कभी हमारे द्वार आता है, भिक्षा के लिए। कितना रूपवान और हृदयवान लगता है! आज तो यह यज्ञ के लिए पशु-दल ले जा रहा है।'

दूसरी बोली—'ज़रा इसकी सुन्दर आँखे तो देखो। कैसी करुणामय हैं! प्रतीत होता है, यह नन्हा छौना थक गया है और यह उसे कधे पर उठा कर लिए जाता है।'

अजपाल प्रासाद के आँगन में प्रविष्ट हुआ। जहाँ वेदिकाएँ बनी थी और विप्रो के गम्भीर, सतृष्ण कण्ठो से 'स्वाहा, स्वाहा' का घोप यज्ञ-धूम्र के साथ उठ रहा था। अजपाल और उसके रेवड़ को देख कर, ब्राह्मण वड़े प्रसन्न हुए। उनमें जो महोदर आचार्य थे, उन्होने आदेश दिया—महाराज को बुलवाओ। एक सुपुष्ट भेड़ को मत्रशुद्ध कर, इधर लाओ। शिष्य दौडे, कुछ पशु-दल की ओर कुछ राजमहल की ओर। तो भाभी, इस बीच अपने कधे के छौने को नीचे उतार कर तरुण विरागी यज्ञ-मण्डप की ओर बडा। हाथ में छुरा लेकर जो ब्राह्मण मत्रोच्चार कर रहा था, उसके निकट चला गया और दोनों हाथ जोड, उसने वेदी पर, असिसुना पर, छुरे की छाया-नीचे अपना सिर झुका दिया—'इन मूक प्राणियों के बदले, मेरे सिर पर अपनी छुरी चलाओ!'

मण्डप में कुहराम मच गया। ब्राह्मण बड़े क्रोध से उसे ललकारने लगे, परन्तु उसके अविचल मौन को भग करने में असफल रहे। शोरगुल को सुन कर यज्ञ के व्यवस्थापक दौड़े आए। तब तक महाराज बिम्बिसार भी आ गए। राजा ने वेदिका पर झुका तपी का शीश देखा, तने हुए छुरे की धार देखी।

राजा को देख कर सब शान्त हो गए।

सन्यासी ने वैसे ही खडे-खडे कहा—'ब्राह्मणो, महाराज, आप लोग देवो को प्रसन्न करने के लिए इन निर्दोप और मूक प्राणियों की बलि देना चाहते हैं। परन्तु सोचा है कभी, इस कर्म मे कितनी क्रूरता है। इन जीवों को मारने का अधिकार तुम्हे किसने दिया?'

तरुण के प्रश्न का उत्तर न मिला। सब स्तब्ध हो सुनते रहे। वह फिर बोला—'धर्म की प्राप्ति निरीह जीवो की हिंसा में नही है। हिंसा स्वयं महापाप है, उससे धर्म का पुण्यफल प्राप्त नही हो सकता। राजन्; बताइए, विष का वृक्ष हो, तो क्या उस पर सुधा के पुष्प, अमृत-फल लग सकते हैं ?'

सब वैसे ही स्थिर रहे। राजा आगे बढ़ा—'तरुण-तपी, मैं तुम्हारी शरण हूँ। मेरा अपराध क्षमा करो। आज मुझे सत्य-धर्म का रहस्य-लाभ हुआ। मै आज ही महामात्य से मन्त्रणा कर, राज्य मे प्राणी हिंसा न करने के आदेश प्रकाशित करता हूँ।'

'तुम्हारा कल्याण हो!' केवल इतना ही कह, वह विरागी एक मुस्कान लिए वन की ओर लौट गया। और भाभी, यह उसी की कृपा का परिणाम है कि पिछले सप्ताह से हमें आमिष-आहार न मिला।" इतना ही कहा उत्पलवर्णा ने।

राजगृह से लौटकर मैं पुन. पाण्डव-पर्वत पर गया और अपने एक प्रिय पीपल-पादप के नीचे बैठा विचार-रेखा के चित्र देखता रहा। वह पूरी वेला हिंसा-अहिंसा के विवेचन में व्यतीत हुई। कुछ देर बाद तृषा लगने पर मै नदी की ओर चला। बीच में, पहाड़ी का ढाल जहाँ आता था, वहाँ दोनो ओर एक गली-सी बन गई थी। जिसके सिर पर दोनो ओर बडी-बड़ी चट्टाने खडी थी, जिन पर विशाल शिलाएँ झूल रही थी। मै अपने ध्यान में मग्न चला जा रहा था कि सहसा एक बड़ा, अर्राता प्रस्तर-खण्ड मुझे अपना मस्तक छूता हुआ दिखलाई पडा। एक पल चूक जाता, और मेरी दृष्टि उस पर न पड़ती तो 'राम नाम सत्य' हो जाता। क्योकि मृत्यु से कोई बच नही सकता। न तो ऊपर आकाश में, न नीचे समुद्र के मध्य, न पर्वत की कन्दराओं में, न किसी तहखाने में ही पैठ कर, हम काल के हाथो बच सकते है। ससार मे ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ छिप कर, त्राण पा-कर हम मृत्यु की झपट से बच सके।

शिला मेरे सामने गिरी और चूर-चूर हो गई। उसका एक टुकड़ा मेरे पैर पर लगा और घाव पड गया। उससे रक्त बहने लगा। मैं रुका नही। कुछ बढ कर एक ऊँची शिला पर बैठ गया। तब क्या देखता हूँ कि देवदत्त भागा जा रहा है! तो यह इसका कर्म था! वह समझा, मेरा प्राणान्त हो गया है सो, कलंक से बचने के लिए भागा जा रहा है। मैने स्वतः इतना ही कहा—'देवदत्त, तू अबोध है। नही जानता, तू क्या कर रहा है।'

आज मुझे गुरु की खोज में जाना था कि देवदत्त ने मेरी यात्रा में यह बाधा उपस्थित कर दी। स्वस्थ होने मे कुछ दिन लग जाएँगे।

लड़खड़ाता मैं नदी-तीर पहुंचा। पहले पैर का घाव घोया। जल पीया। फिर भी ऐसा लगा, पेट कुछ माँग रहा है। हाँ, भूख.... तुम भी आओ! मैंने आकण्ठ जलपान किया। लेकिन पानी से प्यास बुझती है, भूख नही।

सामने एक नाव आती दिखलाई दी। जब वह निकट आ गई तो मैंने देखा, उसमें कुछ यात्री बैठे हैं। इस पार आकर उन्होने एक छायादार पेड़ के नीचे अपनी गठरियाँ रखी। और तनिक सुस्ता कर वे आहार लेने बैठे। उनके विविध व्यंजनो और अचार-मुरब्बो की गन्ध मेरी नासिका पा रही थी। मैंने स्वाद और क्षुधा के इस उभयपक्षीय प्रहार पर अपने को अरक्षित पाया।

यात्रियो ने कहा—'महाराज, आहार ग्रहण कीजिए।'

'नही, मैं कुछ ही समय पूर्व ले चुका हूँ।' मैंने अपने से ही विद्रोह किया। इस भूख और प्यास से मैं दबनेवाला नही। इसके वार से मैं मरूंगा नही। इस वन में मैं उदरपोषण के लिए नहीं आया, तप के लिए आया हूँ। मेरी तृप्ति भोजन और जलपान से नही होगी। ज्ञान ही मुझे तृप्त कर सकता है। बुद्धि ही मेरी क्षुधा का निवारण कर सकती है। जब तक ऐसी सिद्धि उपलब्ध नही होती, स्वाद मेरा शत्रु है और भोजन मेरे लिए विष है।

मैं घोर-कठोर तपस्या करूंगा!



[२७]

'क्यों भाई, आचार्य आलार कालाम का आश्रम यही है ?'

मैंने आश्रम में प्रवेश करते हुए एक तरुण संन्यासी से पूछा। वह बोला—'हाँ श्रेष्ठ, पूज्यपाद का आश्रम यही है।'

'तो, आवुस ! मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ। इसी अभिलाषा से बड़ी दूर से आया हूँ।'

'किन्तु संन्यासिन्, तुम मुझे आयुष्मान् न कहकर, लोक-भाषा में आवुस क्यों कहते हो ? आचार्य सुन लेंगे, तो रुष्ट होंगे। हमारे आश्रम के प्रथम नियम द्वारा शूद्र-भाषा का निषेध है।'

मैंने कहा—'मैं तो जानता था, ब्राह्मण और क्षत्रिय आँख-कान, नाक-मुँह लेकर ही जन्म लेते हैं। आज मुझे मालूम हुआ, वे अपनी माँ के गर्भ से, भाषा को साथ लेकर भी, जन्म लेते हैं। तुम्हारा आभारी हूँ।'

'बड़े उद्दण्ड हो युवक !'

मैंने उत्तर न दिया, पूछा—'तुम्हारी तपस्या का उद्देश्य क्या है ?'

'आत्म-कल्याण।' उसने रट्टू तोते की तरह घिसी हुई बात कही। मैं बोला—'नहीं, लोक-कल्याण। और यदि लोक-कल्याण हमारा लक्ष्य है तो लोक की भाषा हमारी भाषा है। अच्छा, जाने दो इस विषय को। मैं गुरु की खोज में निकला हूँ।'

शिष्य ने चतुर दलाल की तरह अपने प्रचार की थैली खोली—'आचार्य से बड़ा गुरु कौन ? उन्होंने सकल सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। वे हवा में उड़ सकते हैं और पानी में चल सकते हैं।'

'हवा में तो पक्षी भी उड़ते हैं। और पानी में जल-जन्तु जितनी प्रवीणता से चलते हैं, उतनी प्रवीणता दिखाने के लिए आचार्य को मगरमच्छ का जन्म लेना पड़ेगा।'

'अतिथि ! इतनी अश्रद्धा अच्छी नहीं। लो, गुरुजी सामने ही आ रहे हैं।'

मैंने अपनी श्रद्धा समेटकर आलार कालाम को प्रणाम किया। उन्होंने शुद्ध व्याकरणसम्मत, ब्रह्मनिष्ठ संस्कृत में मुझे आशीर्वाद दिया। बोले—'तरुण, वृद्ध माता-पिता को छोड़ आए हो न ! और उस तरुणी पत्नी और नवजात् शिशु का मोह भी तुम्हे न बाँध सका ?'

मैं आचार्य की वाणी से बड़ा प्रभावित हुआ। कैसे अपूर्व त्रिकालदर्शी हैं ! बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि कपिलवस्तु के कुछ सैनिक मुझे ढूढते हुए इधर आ निकले थे। उन्ही से आचार्य को मेरा परिचय प्राप्त हुआ था। इस समय तो, मैंने उनके पैर पकड़ लिए, अवश्य अपना शिष्य बनाइए मुझे। मेरा उद्धार आप के हाथ है। आचार्य ने शिष्य-समुदाय की ओर गर्व से देखा—'तुम्हे इन्द्रिय-दमन करना होगा।'

'आचार्यवर का कथन यथार्थ है। परन्तु पिछले वर्ष मैंने स्वाद को वश में किया है और रसना को जीता है।'

'तब तुम्हे स्थूल से सूक्ष्म मे पहुँचाना होगा। देह से मन की ओर आना होगा।'

'गुरुदेव, मैंने सूक्ष्म और स्थूल को भली भाँति जान लिया है। मेरा मन मेरे वश में है। जिस प्रकार राह चलता पंथी विगत पंथ की ओर नही देखता, उस-प्रकार मैं भोग-मार्ग को छोड़ चुका हूँ, मुडकर उसे नही देखा।' आलार कालाम अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से मेरी तरुण काया और अत्यन्त काले केश देखते रह गए।

'क्षमा करें, आवुस कालाम ! आप इस धर्म को स्वयं जान, साक्षात्कार कर बतलाते हैं ?'

'हाँ, आवुस ! मैं इस धर्म को स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर विहरता हूँ।'

'यह सब तो मैं भी जानता हूँ।'

'तब तो बड़ा लाभ होगा हमें। तुम जैसे ब्रह्मचारी को देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैं जिस धर्म को स्वयं जानकर बतलाता हूँ, उस धर्म को तुम भी स्वयं जानकर विरहते हो। जिस धर्म को तुम स्वयं जानकर विहरते हो, उस धर्म को मैं स्वयं जानकर, उसका उपदेश देता हूँ। जिस धर्म को मैं जानता हूँ उसे तुम जानते हो, जिस धर्म को तुम जानते हो, उस धर्म को मैं जानता हूँ। इस दृष्टि से, जैसे तुम, वैसा मैं। जैसा मैं वैसे तुम। अब आओ आवुस, हम दोनो संन्यासियो के इस गण को धारण करें। आज से तुम भी यहाँ के मेरे समकक्ष आचार्य हो।'

इतना कह आलार कालाम ने अपने शिष्यो को बुलाया और मुझे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। आचार्य कालाम के हृदय की सहज गुण-मुग्धता देखकर

में वहुत प्रभावित हुआ। उनकी इतनी आयु ! जितने वर्ष उन्होंने व्यतीत किए, उतने दिन भी, इस संसार में आए, मुझे नही हुए। उन्होंने आचार्य होते हुए भी मुझ अन्तेवासी को समान पद प्रदान किया। कुछ दिवस पश्चात् मुझे ऐसा लगा आलार-कालाम जिस धर्म की शिक्षा दे रहा है, वह धर्म न निर्वेद के लिए है, न विराग के लिए, न निरोध के लिए है, केवल आकिंचन्य आयतन प्राप्त करने के लिए है। जव मुझे इस विश्वास की प्रतीति हो गई तो मैं इस धर्म-दीक्षा को अपर्याप्त मान कर उसमे विरक्त हो गया। और एक सुवह आलार कालाम को नमस्कार कर, चल दिया।

सोचा, मैं इस तरुण वय में घर से निकल पड़ा हूँ। केश-श्मश्रु मुँडा, काषाय पहन उदास ब्रह्मचारी वना हूँ। अश्रुमुख पत्नी और माता-पिता को अत्यन्त कठोरता से, रोता छोड़ आया हूँ। यदि फिर भी मेरे मन का प्रश्न—प्रश्न ही वना रहा, तो क्या लाभ प्रव्रजित होने से ? इस दृश्य-अदृश्य जगत् में 'क्या उत्तम है' की मैं खोज कर रहा हूँ, यों मैं किंकुशल-गवेषी हूँ। मुझे अपने प्रश्न का निदान पाना है। आश्रमों में यो पेट भर खाना और चैन से वैठ कर गृहस्थियो से गप्पे लड़ना मेरा धर्म नही। तव मैंने शपथ ली, जव तक मुझे सिद्धि की ज्योति न मिल जाएगी मैं सभी प्रकार के प्रमाद से परे रहूँगा।

वन-वन, पथ-पथ, गिरि-गिरि, कंदरा-कंदरा—जहाँ-जहाँ किसी साधु संत के होने का मुझे पता लगता, मैं पहुँचता। भटकते-भटकते कई दिन निकल गए, तव मैं अनुत्तर शांति के परम पद को खोजता हुआ जहाँ उद्रक-रामपुत्र था, वहाँ गया। मैं इतना आकुल था, मेरी ज्ञान-पिपासा इतनी वेचैन थी कि, मैं अपने को मौन न रख सका और उद्रक-भिक्षुओं के डेरे—वाहर से ही चिल्लाया—'आवुस राम ! प्रणाम करता हूँ। मैं कपिलवस्तु के शाक्य शुद्धोधन का पुत्र हूँ और किंकुशल-गवेषी हूँ। तुम्हारे इस धर्म-विनय में मैं ब्रह्मचर्य वास करना चाहता हूँ।' एक साँस में मै सव कह गया। मुझमें इतना धैर्य न था कि रामपुत्र मुझसे परिचय पूछे और मैं उसका उत्तर दूँ और यों व्यर्थ ही समय नष्ट होकर मेरी अभिज्ञा-प्राप्ति में विलम्व हो। उद्रक रामपुत्र ने प्रसन्न होकर कहा—'विहरो आयुष्मान् ! यह धर्म-विनय ऐसा आश्रम है जहाँ विज्ञ-पुरुष न-चिर में आचार्यक-विशेषज्ञता को स्वयं जान कर साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरते हैं।' तव राम ने मुझे समाधि की सात अवस्थाएँ और 'नैव संज्ञा-नाऽसंज्ञा-आयतन' वतलाया। तो मैंने उससे कहा कि यह सव तो मैं जानता हूँ। परीक्षा दे सकता हूँ। कुछ और वताओ। उत्तर में वह वोला—'हे राजपुत्र, मेरे इस विनय में कई वृद्ध श्रमण हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो शताब्दियो से तप

कर रहे हैं परन्तु वे समाधि की अवस्थाओं में पारंगत नही हैं। मै भी अधिक नही जानता हूँ। जैसे तुम हो, वैसा ही मैं हूँ। आओ आवुस ! हम दोनों, भिक्षुकों की इस मंडली की अध्यक्षता धारण करें।'

मै बोला—'रामपुत्र, मै अध्यक्षता करने नही निकला हूँ। विश्व की मानवता दुख और अशान्ति की खन्दक में विलख रही है। उसे संदेह-मुक्ति का शुभ-संवाद देना है। मैं उसी अनुत्तर शान्ति की खोज में चला हूँ, तुम्हारे पास वह नही तो, मैं और कही जाऊँगा। अच्छा, नमस्कार ! कष्ट के लिए क्षमा करना।'

मै चल पडा तो उद्रक रोक कर बोला—'सिद्धार्थ कुमार, ये फल तो खाते जाओ। तुम भोर से भूखे हो वन्धु !'

मैने सुना, न सुना।

फल और रोटी, प्रासाद और पद्मिनी—इस चक्कर में मै फँसनेवाला नही। मै बहुत कठोर हूँ। अपने आप से लड़ रहा हूँ और अपने ही से न हारूँगा।

अव मुझे एक ही वात का खेद था। अज्ञान सव कही है, ज्ञान कही नही है। मेरी भूख-प्यास, निद्रा-जागृति सव उड़ गई। पैर बढते गए। अव तो इन्होने कंटको में चलना सीख लिया था।

दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष वात्याचक्र के पत्तों की तरह उडे जा रहे थे : अव तक मैने सभी दर्शन देखे। योग-विद्याएँ सीखी। समाधियो में बैठा। और भी बहुत कुछ किया परन्तु मै शान्ति न पा सका। जव मैं स्वयं अशान्त हूँ, चराचर को शान्ति कैसे दे सकता हूँ !

मै उजाड़ वन-खण्डों में जाता, गिरि-गुहाओ में घुस जाता और महीनो श्वासोच्छ्वास रोके समाधि में लीन रहता। पेट में भयंकर वेदना होती। शरीर में शूल उठता। तप के कारण सारी देह जल उठती पर मेरी लगन और मेरा उत्साह न जल सका। मेरी आशाएँ भंग न हुई। निश्चय अचल रहे, और उग्रातिउग्र-तप चलते रहे।

शीत-ऋतु में मैं अति शीतल जल में आकण्ठ बैठ कर, योग-साधना करता। ग्रीष्म मे जव धरती-आकाश आग उगलते, तव मैं अपने चारों ओर धधकती अग्नि जला कर बीच में अकम्प बैठा रहता। वर्षा-काल मे मैं खुले मैदानों में नग्न पड़ा रहता। मैने गुरु की आज्ञा से पावस की अनेक रातें उन घनी झाड़ियों में सो कर

बिताई, जहाँ सभी प्रकार के हिंस्र जन्तु-सिंह, रीछ, नाग, साँप सोए रहते। उनकी साँस की घर्र-घर्र और गंध का अब भी मैं स्मरण कर सकता हूँ। मेरे इस उग्र तप को देख-देख कर व्यवसायी ब्राह्मणों के टोले मेरे पास आते और अपना गुरु बन जाने के लिए विनती करते। परन्तु मैं उनकी मक्कारी खूब जानता था। वे मेरी ओट में अपना उद्योग चलाना चाहते थे। जब-जब वे आए मैंने उन्हें निकाल बाहर किया। मैं स्पष्ट कह देता—'मेरे पास शान्ति नही, ज्योति नही, विप्रो, तुम कही और जाओ।' तब भी यदि वे मेरा पीछा करते तो मैं रात मे उन्हें तज कर, चल देता।

मैंने वर्षों वृक्षों पर चढ़ कर तपस्या की। डाल से उलटा लटक, नीचे धुआँ जला कर मैं ज्ञान के लिए हठ करता रहा। महीनों काँटों की सेज पर सोया। धरती में गड़ा रहा। नदियों में तैरता रहा। एक टाँग से खड़ा रहा। शीर्षासन लगाए रहा। अमावस्या की रात श्मशान में शव की छाती पर बैठ कर मंत्र-तंत्रों की साधना देखी, पर मेरे मन का कोलाहल वैसा ही रहा, विश्व का क्रन्दन वैसा ही रहा। मैंने पाया, शान्ति इन सब में नही है। यह सब मिथ्या है। यह सब प्रपंच है, यह सब धोखा है। ये तपस्याएँ झूठी हैं।

प्रान्त-प्रान्त, वन-वन, देश-देश, आश्रम-आश्रम मैं छानता गया। यात्रा का न आदि मिलता था न अंत!

मैंने भविष्य-वक्ता ज्योतिषियों के साथ रह कर आगम-वाणी और सामुद्रिक-शास्त्र सीखे। वहाँ भी पाखण्ड वर्तमान था। फिर एकान्त-सेवी गुरुओं की सेवा मे रहा। एक गुरु ऐसे मिले, जो केवल खेत में गिरे हुए अन्न के दानो पर निर्वाह करते थे। उनकी संगति मे रह कर मैं भी उंच्छव्रती बना। निरा-पशु-सा जीवन था वह! नैष्काम्य मार्गाख्यायी की प्रतिशरण मिलती नही थी। त्रैचीवरिक संतों का अनुसरण किया। और देखा कि वे तो केवल वस्त्रो की संख्या को ही मनसि-करणीय समझ बैठे हैं। सो, मैं ऐसे धर्म से उदास हो, चल दिया।

किंकुशल-गवेषी मैं शान्ति-पद की लगन में मगन, मगध में चारिका करता रहा। बड़ी सुंदर थी वह धरती—रम्य भू-भाग, मधुर वनश्री, रुचिर प्रान्तर और बहती नदी देखी। पास ही भिक्षाटन-योग्य ग्राम्य देखा। मेरे मुँह से निकला—'रमणीय है यह भूमि-भाग। प्रधान के लिए यह अल है।' और मैं वहीं बैठ गया। उस समय मुझे अद्भुत, अश्रुतपूर्व तीन उपमाओं का भान हुआ—जिस भाँति गीला-काष्ठ जल में डाला जाए। कोई आकर उसे उठा

ले, कहे इस काष्ठ से आग जलाऊँगा, तेज उत्पन्न करूँगा, भोजन बनाऊँगा आदि । और वह उत्तरारणी (रगड़ कर अग्नि निकालने की लकड़ी) से उस गीली और भारी लकड़ी से अनल जला लेने का प्रयत्न करे, तो वह व्यक्ति पीड़ा का ही भागी होगा । और भले थक कर चूर हो जाए, लकड़ी नहीं जलेगी। उसी भाँति जो व्यक्ति वासना में लीन हो विचरते हैं, जिनकी काम-रुचि, काम-स्नेह, काम-मूर्छा और काम-पिपासा, लकड़ी की आर्द्रता की भाँति भीतर से नहीं छूटी है, अशमित है, तो ऐसे व्यक्ति प्रयत्न-बद्ध होने पर भी निरन्तर वेदनाएँ सह रहे हैं और उन्हें परम ज्ञान का अनल प्राप्त नहीं होता ।

और जिस प्रकार स्नेह युक्त गीला काष्ठ जल के समीप स्थल पर पड़ा हुआ हो, और उससे भी अग्नि प्रकट नहीं हो सकती, और केवल उसी नीरस, शुष्क काष्ठ से हो सकती है, जो जल से दूर सूखे स्थल पर पड़ा हो । उसी प्रकार जो कोई व्यक्ति—श्रमण, ब्राह्मण, काया-द्वारा काम-वासना और भोगों से अलिप्त हो विहरता है, और जिसका अन्तरतम भी काम-दाह से सुप्रहीण है, सुशमित है, वही उस परम ज्ञानरूपी अग्नि को प्रकट करने में समर्थ है, जो सारे बाधा-बन्धनों को भस्म कर देती है ।

इसके दूसरे मास, जाने कैसे मेरे मन में आया—क्यों न मैं दाँतों पर दाँत रख, तालू को जिह्वा से दवा कर, मन से मन का निग्रह करूँ । और मैंने दाँत पर दाँत रख, जिह्वा से तालू दबाया । इस प्रक्रिया में कुक्षि से स्वेद बहने लगा, जैसे कि कोई बलवान पुरुष किसी दुर्बल का शीश और कन्धा पकड़ कर उसे धर दबाए, तपाए । इस प्रयत्न में मेरी स्मृतियाँ बनी रहीं, काया तत्पर रही । मेरे सम्मुख दूसरी क्रिया श्वास रहित ध्यान की थी । तत्काल मैंने उसका अनुसरण किया । मुख और नासिका से साँस का आना-जाना रोक दिया । तब मेरे मुख और नाक से श्वास-प्रश्वासों के रुद्ध हो जाने पर, कर्ण-छिद्रों से निकलते वात के कारण बहुत अधिक झंकार होने लगे । जैसे लोहार की धौंकनी से धौंकने पर बहुत अधिक शब्द होता है, वैसे ही मेरे कानों में धौंकनियाँ चल रही थीं । फिर मैंने मुख, नासा और कर्ण तीनों इन्द्रियों से श्वास-रहित ध्यान किया तो मूर्धा में बहुत से वात टकराने लगे । और ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई मेरे सिर का मन्थन कर रहा है । सिर में पीड़ा होने लगी । मेरा यह संकल्प उग्र था । पेट में शूल उठने लगा, मानो कोई विकर्त्तन से उदर काट रहा है । सारी देह में दाह होता था । जैसे कोई अंग-अंग को अंगारों पर तपा रहा है ।

यहीं मुझे कौण्डिन्य और उनके चारों साथी—वप्र, भद्रिय, महानाम और

अश्वजित मिले। ये मेरे जन्म के समय से ही प्रव्रजित हो, वर्षों से भिक्षाटन कर रहे थे। जब इन्हें मेरा पता चला, तो खोज करते हुए आ पहुँचे और तन-मन से मेरी सेवा करने लगे। ये मेरे चीवर धोते, वासस्थान को स्वच्छ रखते और विविध भाँति की परिचर्याओं से प्रसन्न रहते कि श्रमण गौतम जिस धर्म को प्राप्त करेगा, उसे हमें भी बतलाएगा। सदैव मेरे अनुचर बने रहते और मेरे आदेश की प्रतीक्षा करते। इन्हें मेरा तप देख, सदैव यह आशा लगी रहती कि अब गौतम बुद्धत्त्व को प्राप्त होंगे, अब यह बुद्ध बनेंगे। और मैं सोचता रहता, अभी मेरी मंजिल बाकी है, अभी मुझे बहुत चलना है, अभी तो मैंने चलना सीखा है। इस धुन में मैं तपःलीन रहा और इन पाँचों शिष्यों ने सोचा—'छः वर्ष होने आए श्रमण गौतम उग्रतर तप कर रहा है, परन्तु इसे अभी तक बुद्धत्त्व प्राप्त नहीं हुआ। अब इसके साथ अधिक रहने में कोई सार नहीं। यह स्वयं असफल रहा है। जिधर जाता है ग्राम और नगर-जन इसका परिहास करते हैं, इसलिए, इसका साथ छोड़ देने में ही कल्याण है, यदि संग रहे तो इसकी असफलता में भी हिस्सा बँटाना पड़ेगा। यह तो केवल एक बदरी-फल पर रहता है, किन्तु हम तो ब्राह्मण हैं! हमें तो पेट भर भोजन चाहिए भूखा रहकर तो भजन नहीं किया जा सकता।'........यह जान, मैं स्थूल आहार ग्रहण करने लगा। तो इन्होंने इसमें भी बुराई देखी। और 'श्रमण गौतम बाहुलिक है। बाहुल्य-परायण है। पेटू है। इससे कुछ आशा रखना ओस-बिन्दु से सिर धोने के समान है'—कहते मेरा तिरस्कार कर, अपने झोली-झंडे उठा, चले गए।

जब ये पाँचों अनुचर न रहे, तो मैंने चैन की साँस ली। चलो छन्द छूटा। अब मैं अधिक एकाग्र होकर सिद्धि का स्वागत कर सकूँगा। लेकिन पेट ने पूछा—भद्रिय के बिना भिक्षा कौन लाएगा? मैंने कहा, मैं भूखा ही रह जाऊँगा। और निश्चयपूर्वक मैंने भावी कार्यक्रम बनाया—क्यों न आहार का सर्वथा त्याग कर दूँ! तब देवों ने आकर कहा—'मार्ष, तुम भले भोजन तज दो। हम तुम्हारे रोम-कूपों-द्वारा दिव्य ओज डाल देंगे, उसी से तुम निर्वाह करोगे। इस भव्य भोजन के योग से तुम्हे क्षुधा—बाधा न व्यापेगी।'

'नहीं। रहने दो—मैंने देवों का भोज अस्वीकार किया। यदि ऐसा न करता तो, मेरा तप मृषा होता।

दिनों से निराहार और श्वास-निरोध के कारण एक दिन मैं अमुध अवनी पर पड़ा रह गया। मेरी यह दशा देख-देख कर पथिकजन कहने लगे—'श्रमण

गौतम मर गया है । संन्यासी सिद्धार्थ मर गया है ।' 'चलो एक पाखंडी कम हुआ । ' सुनकर ब्राह्मण बोले ।

यह मिथ्या संवाद यों फैलता गया, फैलता गया । झूठी अफ़वाह की गति पवन-से भी अधिक होती है ।

खबर यह कपिलवस्तु पहुँची । और शाक्य शुद्धोवन से कहा गया, 'आपका बेटा मर गया है ।'

शुद्धोधन ने पूछा—'क्या वह बुद्ध बनकर मरा है ? या उसके पूर्व ?'

'देव, वह बुद्ध बनने में असमर्थ रहा । और बुद्धत्व प्राप्ति के प्रयत्न में असफल भटकता रहा । उसकी मूर्खता, हठ और दुराग्रह के कारण किसी ने उसका साथ न दिया और वनान्तर में वह अकेला ही भूखों मर गया । अन्त समय में कोई पानी पिलाने वाला भी न मिला । न कोई उसे चिता-दान दे सका । यों ही खुले मैदान में चील-कौए उसे नोच कर खा गए ।......राजन् ! हमने अपनी आँखो देखा है ।'

'मैं नही मानता । मुझे विश्वास नही होता । जब तक मेरे बेटे को बुद्धत्व प्राप्त नही हो जाता, मृत्यु उसका बाल भी बाँका नही कर सकती । तुम सब झूठे हो ।........प्रहरी, इन बदमाशो को पकड़ लो । और इनके हाथ-पैरों मे मन-मन भर लोहे की बेड़ियाँ डाल दो । ताकि उनकी झंकारें सुन कर इन्हें अपने किए पर पश्चात्ताप हो ।........मैं इस बात पर कदापि विश्वास नही कर सकता । मैंने स्वयं कालदेवल को सिद्धार्थ की चरण-रज लेते देखा है ! कौडिन्य ने सिद्धार्थ के बुद्ध बनने की घोषणा की थी । विधाता की रेखाएँ झूठ हो सकती हैं, कालदेवल का कथन मिथ्या नहीं हो सकता । और वप्पुमान्, तुम्हे याद होगा उस दिन जम्बू-वृक्ष के नीचे हमने सिद्धार्थ का, भावी बुद्ध के रूप मे दर्शन किया था ।'

सूनी पगडंडियो के किनारे, वन वृक्षो के नीचे बैठा मैं राहगीरो के मुख से विविध वार्ताएँ सुनता रहता । और जो ज्ञानी थे, वे कहते थे—'श्रमण गौतम नही मरा, न मरेगा । श्रमण गौतम अर्हत है । अर्हत का विहार इसी प्रकार होता है ।'

तब मैंने निराहार को मिथ्या मान, यह सोचा कि क्यो न मैं थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करूँ—पसर भर मूँग का जूस, मटर या आहार का जून लेना

चाहिए। थोड़ा, पसर भर मूँग या दूसरी दालो का जूस लेते रहने पर भी, मेरी देह दुर्बलता की परम सीमा पर पहुँच गई। मेरा अग-प्रत्यंग आसीतिक की ग्रन्थियों-सा गोचर हुआ। उस अल्पाहार से मेरा आनिसद ऐसा हो गया जैसे ऊँट का पैर हो। पीठ की हड्डियाँ सूओ की पाँति-जैसी ऊँची-नीची हो गईं। मेरे पँसुलियाँ पुरानी शाला की कड़ियों के समान ओलुग्ग-विलुग्गां (अहँए-वँहँए) हो गईं। जैसे गहरे कुएँ में पानी का तारा—उदकतारा गहराई में बहुत दूर दिखाई देता है, वैसे मेरे चक्षु-तारक थे। जिस प्रकार कच्चा ही तोड़ लिया गया कड़ुआ लौका पवन और धूप से चिचुक कर, मुरझा जाता है, वैसे ही मेरे सिर की चमड़ी चिचुक गई थी। यदि मैं पेट की खाल को मसलता तो, पीठ के काँटों को पकड़ लेता और पीठ के काँटों को मसलता तो पेट की खाल पकड़ लेता था। उन दिनो मेरी पीठ और पेट एकदम सट गए थे। यदि मैं दिशा जाता तो, वही चकरा कर गिर पड़ता था। और जब मैं अपने शरीर को सहलाते हुए हाथ से गात को मसलता था, तब देह से सड़े मूलवाले रोम झड़ पड़ते थे।...मुझे इस दशा में देखकर पनघट की अपरिचित स्त्रियाँ भयभीत हो भाग जातीं। लोग कहते थे—श्रमण गौतम काला है। नहीं, काला नहीं श्याम है।...वे परस्पर तर्क करते। श्रमण गौतम न काला है, न श्याम ही है, वह तो मंगुर वर्ण है। इस कथोपकथन से मेरी उस अवस्था का अनुमान लग सकता है। मेरा वह पूर्वकालीन परिशुद्ध परिअवदातछवि-वर्ण नष्ट हो गया !

इस तपस्या पर मैंने निर्णय दिया—पुराकाल में जिन-किन्हीं साधकों ने घोर कष्ट सहे, कटुतम वेदनाएँ सहीं, वे इससे अधिक नहीं, इतने ही पर्यन्त थीं। भावी मे भी जो कोई साधक कठोर कष्ट सहेगा, उसकी सीमा का अन्त भी यही होगा। और आज वर्तमान में भी जो कोई साधक तीव्र तप ताप सह रहे हैं, वह भी यहीं तक हैं। इतने पर भी परम तत्त्व अप्राप्य रहा। और इस दुष्कर कारिका से भी उत्तर-मनुष्य-धर्म—अलमार्य-ज्ञान-दर्शन विशेष न पाया, तो अवश्य बोध के लिए कहीं कोई दूसरा मार्ग है। अब मुझे उस मार्ग की खोज करना चाहिए।

तब मैं कुल्माष (दाल-भात) ग्रहण करने लगा। इससे सबल हो, वितर्क तथा विचार सहित, विवेकज, प्रीति-सुखवाले प्रथम ध्यान को प्राप्त हो विहरने लगा। इसी प्रकार मुझे द्वितीय ध्यान की प्राप्ति हुई। फिर मैं प्रीति और विराग की उपेक्षा कर, सुख विहारी बन विहार करने लगा।

इस प्रकार मेरे दिन बीतते गए। पर परम-ज्ञान परे और परे रहा। और

तपस्या के ये वर्ष तो ऐसे बीते, मानो कोई वर्षो हवा की गाँठें बाँधने का विफल प्रयत्न करता रहे ! तथापि, लोग आते, साधुओं के संघ आते और मुझे नाना प्रलोभन देते। वे मेरी तपस्या का प्रदर्शन करना चाहते थे। मुझे सुख-सुविधा, गुण-गरिमा और धन-कंचन से ढँक देना चाहते थे और जब मैंने यह सब अस्वीकार किया, तो वे कहने लगे—'सिर फिरा है गौतम।'

वे मुझे पागल कहते थे क्यों कि मैं अपने अनमोल-क्षण सोने-चाँदी के बदले बेचने को तैयार न था। मैं पेट के उन गुलामों से घृणा करता था। और मुझे इस बात पर तरस आता था कि क्यों कर वे सोचते हैं—मेरे प्रयत्न और पलो का मोल किया जा सकता है ! मेरे परिजन छूटे थे, नाते टूटे थे। साथ में साथी नही था। दिशाएँ विपरीत थी और पवन प्रतिकूल थे। पर, मन में मर मिटने का मान और सिद्धि पाने का संकल्प था—कौन जाने, शायद इसी कारण, मैं इन दिनो बहुत प्रसन्न रहता था।



[२८]

मगध में चारिका करते हुए मैं उरुवेला नामक सेनानी निगम मे पहुँचा। वहाँ मैंने एक प्रासादिक प्रान्तर के वन- खड में वहती एकाकिनी सरिता को देखा। उस निर्जन में किससे पूछूँ इसका नाम ? लेकिन अपनी कल-कल में नेरंजरा नाम वह स्वयं ही वता रही थी। पास ही कुछ और ग्राम भी थे। नेरंजरा के स्वर से ऐसी ध्वनि आती थी मानो तुषित-लोक की किसी देव कन्या का स्नेह इस लोक मे सरित् वन वह निकला है और कल-कल में अपना पूर्व-प्रेम-गीत गा रहा है। एक स्वर, एक तान, एक लय—मुझे नेरंजरा की यह एकनिष्ठता भा गई। मन में किसी ने कहा—'यदि ऐसी निष्ठा ले तुम अटल वैठ जाओ, तो बुद्धत्व स्वयं चला आएगा। तुम्हे कही जाना न पड़ेगा।' और परमार्थ-उद्योगी कुलपुत्र की साधना में सहयोगिनी होगी यह भूमि। इस अनुमान पर मैं वही विचरण करने लगा।

तप मेरा चल रहा था। एक ऊँची, काफी चौड़ी और सघन श्याम शिला पर मैं वैठा था। यह समाधि कई दिन चलती रही। एक दिन की वात है। दोपहर का प्रचण्ड प्रभाकर पृथ्वी के अंग-अंग को उवाल रहा था। चारों ओर सूना-सन्नाटा था। ऐसे समय, जाने कैसे मैं संज्ञा-शून्य हो गया और जाने कव तक वैसा ही पड़ा रहा। तभी उधर से एक मेषपाल गुजरा। उसने मेरी यह दशा देख कर सोचा, अभी जव मैं इधर से निकला था, तव तो यह संन्यासी ध्यानस्थ सीधा वैठा था, अव इसे क्या हो गया है ? क्या तो, क्षुधा से जर्जर इसकी देह तीव्र ताप को सहन न कर सकी है, क्या यह तृषाकुल होकर वेसुध हो गया है। अव मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ? मै तो शूद्र हूँ और यह उच्चवर्ण है। इसे कैसे छू सकता हूँ ?........

उसने अपनी प्रेमिका को, जो कहीं दूर, गाएँ चरा रही थी, पुकारा—'अरे.... ओ...शएला....आ....आ....अइ....शैला !'

किन्तु कहीं से कोई उत्तर न मिला और दूर चरागाहों और पास की पहाड़ियों से गूंजकर उसकी पुकार खाली लौट आई। मेषपाल दुःखी हुआ। उसकी आंखों में आँसू आ गए। मेरे जीवन में मेरे लिए बहाए गए वे सब से कीमती आँसू थे।

मेषपाल नेरंजरा-तीर से एक द्रोण में जल भर लाया और उसने मेरी आँखो पर उसका अभिसिंचन किया। सिर पर भी जल के कुछ छींटे दिए। धीरे-धीरे मेरी संज्ञा और उसकी मुस्कान लौट आई। परन्तु, दो पल पर ही वह मन्द पड़ गई। भयभीत-सा वह बोला—'मुझे शाप न देना स्वामि! मैंने अपराध किया है कि भगवान् का स्पर्श कर लिया है। मैं परम शूद्र हूँ।'

सस्मित मैं बोला—'दूसरों के प्राण बचानेवाला शूद्र नहीं होता। और भगवान् इसीलिए है कि तुम उसका स्पर्श करो। वह भगवान् नहीं है, जिसका स्पर्श करते भक्त का मन भयग्रस्त हो जाए।'

'मैं देव का दर्शन कर, धन्य हुआ महाराज!'

'भाई, तुम मुझे थोड़ा दूध दे सकोगे? उससे मेरी भूख का शमन होगा।'

'देव, मेरे हाथ का पय आप पान करेंगे?'

'क्यों नहीं, तुम ऊँच-नीच के भेद से न डरो। यह मनुष्य-कृत है, दूध देवकृत है। और जो देवकृत है वह कभी मानवीय पंक से कलंकित नहीं हो सकता।... बड़ा मधुर है तुम्हारा दिया दूध। कुछ और दो भाई!'

और वह निर्द्वन्द्व, भोला ग्रामीण मुझे बड़े प्रेम से पय-पान कराता रहा। उसकी मुद्रा से मुझे ऐसा सकेत मिला, मानो वह कुछ कहना चाहता है, पर अपने में ही उलझ रहा है। मैंने पूछा—'कुछ कहना चाहते हो?'

'महाराज........' वह लजा गया। अभी तरुण ही था यह मेषपाल। मूंछ की रेखा बन रही थी। घने घुंघराले बाल थे उसके! दृष्टि स्वच्छ थी और भावना निर्मल थी।

मैंने उसे आश्वस्त किया—'कहो।'

'महाराज! मेरा हाथ तो देखिए। यह शैला है न, मेरे पड़ोस में रहती है। यहीं नेरंजरा के पार गौएं चराती है। बड़ी लड़ाकू है महाराज! पर मुझे मानती है। उस दिन कहती थी......। जरा हाथ देखिए न! आप तो तीन लोक की लीला जानते हैं।'

मैं बड़े संकोच में पड़ गया। अपने इस उपकारी को कैसे समझाऊँ! दुनिया में किसी का तनिक भी उपकार लेना, कितना बोझिल कर्तव्य बन जाता है!

ज्यों-त्यों बुझाकर मैंने उसे विदा किया। दूसरे दिन वह फिर आया—'महाराज, कल आपने भविष्य नही देखा, किन्तु शैला स्वयं ही हमारी चौपाल चली आई। माँ कहती थी, अगले वैसाख हमारा व्याह हो जाएगा। मैं समझ गया था, यह आपकी कृपा का फल है। आपने हाथ तो न देखा, पर पीत ज़रूर कर दिया।'

और वह जैसे दक्षिणा देता हो, वोला,—'दूध पीएँगे महाराज!'

'नही, आज मेरा व्रत है।'

वह दण्डवत् कर विदा हो गया। फिर वड़ी देर तक दो दिशाओं में दो वसरियाँ वजती रही। वाँसुरी दो थी, पर सुर उनका एक था। कण्ठ दो थे, किन्तु राग एक था। शरीर दो थे, पर प्राण एक था।

प्रेम की इस तन्मयता पर मेरा मन मोहित हो उठा। फिर मैं समाधि की तैयारी मे लग गया।

मैंने अभी लोचन-पट वंद कर, दृष्टजगत् से दूर प्रस्थान किया ही था कि उस मार्ग से हो कर कुछ राहगीर निकले। गायक और वादक थे यह। किसी सामंत के घर पुत्र जन्मा था, वहाँ समारोह मे सम्मिलित होने जा रहे थे। आगे-आगे अपने घुँघरू छमछमाती एक नर्त्तकी और पीछे-पीछे उसकी दो सहेलियाँ थीं। उनमे से एक वजानेवाली और दूसरी गानेवाली थी। परस्पर परिहास करती वे जा रही थी कि गायिका ने वाद्य-तन्त्री वजानेवाली सहेली से कहा—'क्यों री झुन्नो, तूने वीना के तारों को इतना तो नही कस दिया है कि वे टूट ही जाएँ? टूटे तारों से झंकार नही निकलेगी, यह याद रखियो।'

इस पर आगे जो नर्त्तकी चल रही थी, वह वोली—'और सुन री कट्टो, तारों को इतना ढीला भी न छोड़ दीजियो कि तान ही न निकले।'

इस पर गायिका ने कहा—'हाँ री वन्नो, मैं क्या कोई अयानी हूँ, जो ऐसा करूँगी, मैंने अपनी वीना के तारो को न तो अधिक तान लिया है, न अधिक ढीला ही रख दिया है, जब तार ही न रहेगा, तो तान निकलेगी कहाँ से?'

इन पथियो ने मेरी आँखें खोल दी। ये नर्त्तक, गायिकाएँ और इनकी सहेलियाँ मेरी पथदर्शिकाएँ वन गई। ओह! मेरे भ्रम का, मेरी भटकन का अन्त नहीं! मैंने अपनी जीवन-वीणा के तारों को इतना कस दिया है कि वे अब टूटने ही वाले हैं। पहले यह तार ढीले थे, जब मै राजप्रासाद में था। उस रागातिरेक ने मुझे दुख दिया! अब विरागातिरेक मुझे व्यथित कर रहा है। सचेतना जागी—मध्यम-मार्ग ही आत्म-कल्याण का सही मार्ग है। गति ऐसी न हो कि

दुर्गति बन जाए, विगति ऐसी न हो कि अवगति बन जाए! आज से मध्यम-मार्ग मेरा मार्ग होगा, मैंने निश्चय किया।

वैशाख का महीना था। अस्थि-अन्तर्धान के लिए मैं कठिन तपस्या कर रहा था। तब एकान्त में ध्यान करते समय एक मुहूर्त मेरे चित्त में यह प्रश्न उठा—संसार दुख का अनन्त-सागर है। इसके प्राणी जन्म लेते हैं, वृद्ध होते हैं, मरते हैं। निखिल विश्व का सर्जन-विसर्जन है। दुख के कारण संसार जरा और मृत्यु से छूटने का उपाय नहीं जानता। इस महारोग से निःसरण का पथ उसका परिचित नहीं। दुख के रहते उस पथ को कैसे पाया जाएगा?

तब मैंने सोचा—किस कारण से जरा मरण हैं? किसके होने से जरा मरण होते हैं? इनका प्रत्यय क्या है? बहुत देर विचार-विमर्श के बाद मुझे अपनी प्रज्ञा से बोध हुआ—जन्म के होने से जरा और मरण होते हैं। जन्म के कारण जरा और मृत्यु हैं।

तब दूसरा प्रश्न उठा—जन्म का प्रत्यय क्या है? क्या होने से जन्म होता है? तब विचार का सूत्र बढ़ता गया—भव के प्रत्यय से जन्म होता है। जन्म का कारण आवागमन है। लेकिन प्रश्न का निदान नहीं मिला—क्या होने से भव होता है? किस प्रत्यय से भव है? उत्तर मिला, उपादान के होने से भव होता है। भव का प्रत्यय उपादान है। फिर मन ने पूछा—और इस उपादान का मूल क्या है? इसके अस्तित्त्व का आधार क्या है, कहाँ है?

मन का प्रवाह स्वाभाविक गति से बह रहा था। अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं ही उसने दिया—अरे पगले, इतना भी नहीं जानता, उपादान का कारण तृष्णा है। तृष्णा के मूल से अशान्ति की शाखाएँ फूटती हैं।

और यह तृष्णा कहाँ से आई? किसने इसे जन्म दिया?

तृष्णा का आधार वेदना है। अनुभव के प्रत्यय से वेदना होती है। इन्द्रिय और विषय के एक साथ मिलने के पश्चात् चित्त में जो विकार उत्पन्न होते हैं, वही वेदना है। बड़ी भयंकर होती है यह वेदना। आदमी की मजबूरी है यह! मजबूर आदमी क्या नहीं करता?

तब नया प्रश्न आया—जब स्पर्श से वेदना, और वेदना से तृष्णा उत्पन्न होती है, तो स्पर्श का प्रत्यय क्या है? क्या होने से स्पर्श होता है?

षडायतन यानी छः आयतन के होने से स्पर्श को आधार मिलता है। ये स्पर्श के कारण हैं। और ये छः आयतन कौन कौन से हैं, ज़रा उन्हें भी देखें।

आँख, कान, नाक, जीभ, काय और मन—ये हैं स्पर्श और वेदना, तृष्णा और उपादान के पूर्वज ! मन को चैन मिला । समस्या और समाधान का सूत्र वढ़ता जा रहा था । उत्तर यदि मिलते रहें, तो चिन्ता नही प्रश्न चाहे कितने ही आएँ ! नो विचार उठा—इस पडायतन के जनक कौन हैं ? जिस प्रकार यह अपने पुत्रों का जनक है, उस प्रकार इसका भी कोई जनक होना चाहिए ?

तुरन्त निदान आया—नाम-रूप, नाम-रूप ! ठीक ! लगता है महामूल दूर नही है । और जानता हूँ, इस नाम-रूप का जनक है विज्ञान । विज्ञान सव का प्रत्यय है ।

अव मन को अपने ही प्रश्नों ने मोह लिया । उसे अपने ही उत्तर प्रिय लगे। किन्तु आगे का मार्ग ओझल था ।

संसार की अनित्यता मेरे अन्तर में गहरी पैठ गई थी । संसार का दूसरा नाम दुख है। मजवूरी है, मायूसी है, असमता और विपमता है। मैं इस दुख को दूर करूँगा । 'मैं' का अर्थ सिद्धार्थ नही, मनुष्य, आज का मनुष्य, आगामी कल का मनुष्य । मेरा स्वप्न पूरा होगा । आज होगा । कल होगा । मेरे स्वप्नों को मूर्त्त आकार-प्रकार मनुष्य देगा । दुख की उत्पत्ति मनुष्य के हाथों हुई, तो उसकी मृत्यु भी मनुष्य के हाथो होगी । मनुष्य ने दुख की रचना की, तो वह सुख की सृष्टि भी करेगा । सकाल समीप है, असमता पर समता विजयिनी होगी। मनुष्य अमर होकर विहार करेगा। क्योकि वह अमृत-पुत्र है !

और इन चक्राकार वहती तरंग-मालाओ के वीच किसी की याद का सरोज खिल उठता। घनवती-साँझ के धूमिल अंधकार के बीच दीपक की लौ-सी किसी की याद जल उठती—यशोधरा....य शो ध रा ! तुम हो !

और दो पल वाद वह आलोक-छवि अदृश्य हो जाती । मन अजाने, मायावी शून्य से भर जाता और उस अकाम शून्य की गहराइयो से एक अलवेली रागिनी गूँज उठती। वड़ा लुभावना था उसका स्वर, यशोधरा तुम्हें वुला रही है। यशोधरा विकल है। लौट चलो। लौट चलो।

घने-घने अंधकार। श्याम-श्याम राते। कोरे कोरे आकाश। सूनी-सूनी वसुधा और यह एकाकी अन्तर । मर्म की मादक पुकार—सिद्धार्थ, अव लौट चलो ! सिद्धार्थ, अव लौट आओ ! मैं तुम्हारा वियोग अव नहीं सह सकती सिद्धार्थ ! मेरे प्राण, लौटो-लौटो, तुम्हें राहुल की कसम.......सुनते हो निष्ठुर !........

नहीं। नहीं। नहीं।

मन ! अनोतत्तदह का पानी गंगा में वहता है। गंगा उसे वहा कर समुद्र की

शरण ले जाती है। समुद्र उसे पाताल में बहा देता है। मन, पाताल से वह पानी फिर कभी लौट कर नही आता, उलट कर नहीं बहता, उसी प्रकार मैं नहीं लौटूंगा। तू पारिजात नही लौटेगा। सिद्धार्थ नही लौटेगा।

... झाड़ियो में बरसती मतवाली रातें। उरुवेला के वनान्तरों को पार कर आने वाला किसी वियोगिनी का गीत मेरे कानो में गूंज-गूंज उठता। इस निष्ठुरता की सीमा है? इन बेकल झड़ियों-सी विकल घड़ियों में महल के वातायन में यशोधरा जाग रही है। प्रत्यक्ष को छोड़ कर अप्रत्यक्ष की ओर न दौड़ो हठी! इस प्रण को छोड़ो, इस तप को छोड़ो। यश स्वयं मुक्ति है। अपनी मुक्ति तो तुम पारिजात में छोड़ आए, अब किस मुक्ति की खोज में हो? मुक्ति एक है, दो नही। और उसका नाम है, यशोधरा!

लो, अपनी मुक्ति को पहचानो। कितनी दुर्बल पड़ गई है। इसकी इस दुर्बलता का श्रेय तुम्हे है। वक्ष के भार से आगे झुकी जा रही है। राहुल को दूध पिलाती इसकी यह झाँकी देखो। इन प्रबुद्ध-पयोधरों का अमृत-पान करके ही मनुष्य ने मृत्यु को ललकारा है। इस अमृत का एक ही विन्दु पाकर कोई बुद्ध बन सकता है! तुम इसी को छोड़ कर अनास्था के इस विपिन में चले आए, सन्यासिन्! अब भी समय है, चलो, लौट चलो! वह मदिराक्षी पत्नी, वह पिता, वह पुत्र। तुमने देखा है, सामंतो और श्रेष्ठियो को पुत्र्येष्ठि-यज्ञ करते! पर अपने दुलारे की ममता तुम्हे न व्यापी निर्मोहि! तो लौट चलो। यशोधरा अगवानी के लिए द्वार पर आकुल खड़ी है। महाराज तुम्हारा राज तिलक करना चाहते हैं, वे तुम्हारी बाट देख रहे हैं। क्यो भूल रहे हो कि मोह भी कभी-कभी जीवनाधार होता है। और तुम हो कि विमोह को जीवन मान बैठे हो। चलो, पिता बुलाता है, उसकी आँखे देखो! माँ बुलाती है, उनके आँसू देखो। पत्नी पुकारती है, उसका क्रन्दन देखो। पुत्र रोता है, उसका रुदन देखो, और कुछ न देखो तो, अपनी ओर ही देखो। लौट चलो, कपिलवस्तु का कण-कण तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। तुम्हारे आगमन पर सोती हुई शहनाइयाँ जाग उठेंगी और बीती हुई बधाइयाँ बज उठेंगी। माँ की, पिता की, पत्नी की पुकार सुनो!.... हाँ ऐसे खड़े हो जाओ। अच्छा, हाँ हाँ.......इधर है राह, तुम उठो तो सही।

मैं गरज कर ललकार उठा—मारदेव, दूर हो जा! मुझे मोह की मकड़ी के जाले में बांधना चाहता है? मैं जानता हूँ, माता बन्धन है। पिता बन्धन है। स्त्री बन्धन है। बन्धु-बान्धव बन्धन हैं। मित्र बन्धन हैं। धन बन्धन है। लाभ-सत्कार बन्धन हैं। पाँच काम-गुण बन्धन हैं। मैंने इन सभी बन्धनों को काट दिया है। मार, मैं कटे पाश में फिर नही बंध सकता। मैं अपने ज्ञान को पक्का

रहा हूँ। तू बाधा न दे। मैंने दुख-चर्या का अभ्यास किया है, मुझे सुख से न ललचा। लालच मेरा अवरोध नही। माया मेरा बन्धन नही।

तू जा। मैं नही लौटूँगा। देव-पुत्री गंगा अपनी मर्यादा छोड़कर, भले उलटी बहने लगे, किन्तु सिद्धार्थ नही लौट सकता। गो-पद-जल के समान धरित्री के समस्त, अथाह सागर भले ही सूख जाएं, परन्तु मैं नही लौटूँगा। सुमेरु पर्वत के सहस्रों टुकड़े हो जाना सम्भव है किन्तु सिद्धार्थ का घर लौटना सम्भव नहीं। ऊँचे फेंके गए ढेले जिस भाँति नीचे गिरते हैं, उस भाँति चाहे ये चाँद, सूरज और सितारे गिर जाएं, परन्तु बिना सम्यक् सम्बोधित्त्व पाए शुद्धोधन का बेटा घर नही लौट सकता। मुझे अपनी माँ के दूध की सौगन्ध यदि मैं बुद्ध न बनूँ। मुझे यशोधरा के प्यार की शपथ, जो मैं परम-ज्योति की प्राप्ति का प्रयत्न अपूरा छोड़ूँ। कामदेव! मेरा रोम-रोम मेरी यशोधरा है। यशोधरा मेरे अन्तर में विराजमान है। उस मुक्ति-लक्ष्मी की छवि मेरा पथ आलोकित कर रही है। वह मुझे कह रही है—सिद्धार्थ तुम्हारा बुद्धत्त्व निकट है। अमृत का रहस्य खुलने ही वाला है। मरण का मरण निकट है। सिद्धार्थ, अचल रहो, अचपल रहो।

सुजाता को मैंने तब पहचाना था, जब वह खीर लेकर आई थी। जब मैं खीर स्वीकार कर चुका, तब मैंने पूछा—

'देवि, तुम कौन हो?'

'मैं उरुवेला के नगर श्रेष्ठि की पुत्र-वधू हूँ। क्षमा करें, पानी पी कर जाति पूछते हैं?' वह खिलखिलाई।

उसकी यह खिलखिलाहट और स्मिति मुझे पहचानी-सी लगी।

'तुम्हे कहीं देखा है।'

'संभव है। मैं आप से अपरिचित हूँ।'

उसके साथ की दासी ने कहा—'देवी का नाम सुजाता है।'

'ओह!' मैं उसे कैसे पहचान पाता! अब तो वह चञ्चल तरुणी से गंभीर गृह-वधू बन गई थी। अब वह पर्वतीय सरित् न रह कर मैदान में बहनेवाली अपने आप में आश्वस्त नदी बन गई थी। उसके चेहरे की रेखाओं से यह भी परिलक्षित होता था कि उसकी कोख भरी है। दासी फिर कहने लगी—

'भगवन्, आज का दिन धन्य है। देवी ने अपनी कौमार्यावस्था में, बरगद के नीचे यह व्रत लिया था कि हे बरगद देव, यदि मुझे अपने तुल्य वर मिला और मेरी प्रथम सन्तति पुत्र हुआ तो, मैं प्रति वर्ष तुम्हें एक लाख मुद्रा अर्पण करूँगी।

'आज वह दिन आया। देवी ने प्रथमतः लरिय-मधुवन में एक सहस्र गौओं के पालन का प्रबन्ध किया और उनका दूध पाँच सौ गौओं को पिलाया। दूध पी कर ये पाँच सौ गौए अति स्निग्ध और वलवान बनी और उनका दूध अढाई-सौ गौओ को पिलाया गया। इस प्रकार सोलह गौओं का पय आठ को पान कराया गया। इससे प्रत्येक वार पय पुष्ट और घना होता गया। उसकी मधुरता बढती गई और उसके तत्त्व अधिकाधिक पोषक होते गए।

'और आज जब व्रत का दिवस आया। देवी प्रातःकाल शुभ-वेला मे उठी। इन्होंने गौ-दोहन की आज्ञा दी। उस समय वछडे अपने स्थान पर ऊँघ रहे थे। जब तक सेवक उन्हे लाएँ, तब तक गौ के थनो से दूध की धाराएँ वहने लगी। हमने दौडकर देवी को सूचना दी। आकर, देवी ने स्वयं अपनी आँखो से यह दिव्य दृश्य देखा। और स्वयं अपने सुकुमार करो मे पात्रों में उस पय को झेल लिया। अपने ही हाथो देवी ने खीर वनाई।

'जिस समय खीर पक रही थी, पात्र में वडे-वडे बुद्-बुद् उठने लगे। उठ-उठकर वे दाहिनी ओर घूम जाते और आपस में विलीन हो जाते, किन्तु सवको आश्चर्य रहा कि एक भी बूँद पात्र के वाहर नही झलका, और न धुएँ की एक लघु-रेखा भी अग्नि से ऊपर उठी!

तब देवी ने मुझे आदेशा—'पुन्ना, जा ि! आज मेरे भाग्यदेव तुष्ट प्रतीत होते है, जल्दी जा, और उस पवित्र वरगद-वृक्ष के नीचे सभी उपकरण तैयार रख तव तक मैं सास-माँ की आज्ञा लिए आती हूँ।' मैं तत्क्षण चली और यहाँ आई। उस माधवी लता के पास पहुँची थी कि देव पर मेरी दृष्टि पडी—भगवन् शान्त वैठे हैं। नयन मूदे ध्यान-मुद्रा में। और शीश पर, महानाग पीछे से फन फैलाए, छाया कर रहा है। मैने सोचा, वरगदवासी वनदेवता स्वय आज मेरी स्वामिनी का नैवेद्य लेने आए हैं। और शायद उसी की प्रतीक्षा मे वैठे हैं।'

'ठीक कहती है पुन्ना! मैं भिक्षा के लिए जाने ही वाला था।'

आगे वह वोली— 'मैं जैसी आई थी वैसी उल्टे पैरो दौडी-दौडी, लौट पडी। मैने देवी को सारा प्रसग सुनाया। वोली वे—'धन्य भाग्य हैं। आज भोर ही तूने यह सुसवाद दिया है. आज से तू मेरे कक्ष की प्रधान परिचारिका बनी।' इतना कह कर देवी ने मुझे वस्त्र और आभूषणों का पुरस्कार दिया और तन-मन पूजा में लगाए, एक लक्ष मुद्रा के पात्र में खीर परसे, यहाँ आई।'

अब सुजाता की बारी थी—'देवता ! उपकृत हूँ मैं। मेरा यह नैवेद्य अंगीकार कीजिए। और इस शिशु को आशीष दीजिए।' उसने इतना कहकर, अपने बालक को मेरे पैरों में लिटा दिया। मैंने आँखे बन्द कर ली। मन ने कहा—ठीक राहुल-जैसा ही तो है।

'भगवन् !'

'देवि, मैं वनदेव नही हूँ। न कोई सिद्ध-सन्यासी ही हूँ। मैं एक साधारण जन हूँ।'

'भगवन् ! अब और परीक्षा न ले। वर्षों से जिस व्रत-कामना को सहेजती आ रही हूँ, आज वह समूर्त्त दृष्टिगोचर हो रहा है। फिर मैं कैसे मान लूँ ? क्या मैं साधारण जन और असाधारण संत का भेद भी नही जानती ? अब अधिक विलम्ब न करें। मेरा यह स्वल्प पुजापा, ये पत्र-पुष्प स्वीकार करें।'

'देवि ! तुम वरव्रती हो। मैं अवश्य यह पायस ग्रहण करूँगा। शायद यह मेरी ज्ञान-क्षुधा की भी तृप्ति कर सके।'

उसका मुख उमंग से खिल उठा—'भगवन्, अवश्य आपको ज्ञान-ज्योति प्राप्त होगी। जिस प्रकार मेरी मनोकामनाएँ पूर्ण हुई, उस प्रकार आपकी साधना भी सफल होगी।'

सुजाता मुझे देखती रही। मन ने कहा, कही यह पहचान न ले, यों अपलक जो देख रही है। परन्तु वह मुझे कैसे पहचान पाती ! मैं कितना बदल गया था ! और क्यों कर उसे विश्वास होता कि उसकी सहेली का सुख-संगी काम-दूतिकाओं के हास्य से गुंजित रास-गृहों को छोड़ कर, यों न्यग्रोध के नीचे हवा खा रहा है !

'अब आज्ञा हो, मेरे स्वामी प्रतीक्षा करते होंगे।'

मै समाधि के सोपान पर ही स्थित रहा। अपना दाहिना हाथ उठा कर, अभय-मुद्रा-द्वारा मैंने विदा का संकेत दिया।

वह अपनी दासियों के संग लौट गई।

खीर का वह स्वर्ण-थाल लिए मैं नेरांजरा के तीर पर आया। थाल को पत्तों से ढँक कर एक ओर रख दिया। तदनन्तर मै स्नान के लिए जल मे उतरा।

स्नान कर मैंने खीर खाई।

उस वेला मेरा मुख पूर्व-दिशा की ओर था। सिर पर अजपाल की शीतल छाया थी। मैंने पायस के उन्चास छोटे-छोटे ग्रास बनाए थे।

तृप्ति हुई।

क्षुधा निवृत्ति हुई कि फिर मुझे उन्चास दिवस तक भूख न व्यापी।

पायस खाकर मैंने सुजाता के स्वर्णथाल को यह कहते हुए नदी में प्रवाहित कर दिया—

'यदि आज मेरा बुद्ध होना निश्चित हो तो, उरुवेला की धन्यव्रता कुलवधू का यह पवित्र-पात्र धारा में ऊपर बहता जाएगा, यदि नहीं तो, भले यह लौट कर, नीचा बहता आए।'

और मैंने सस्मित वदन देखा—यशोधरा की सहेली का वह सद्पात्र धारा में बढ़ता गया, चढ़ता गया ! और जब नदी के मध्य में पहुँच गया तो, क्षिप्र नौका के समान वेग से ऊपर बहने लगा।

वह दुपहरिया मैंने नेरंजरा के कगार पर खड़े फुल्ल-कुसुमित शाल-द्रुमों की छाया में बिताई। और जब रात की तंत्री सस्वर हो उठी—'समय आ गया है, समय आ गया है' तो, मैं वनराज की तरह उठा और वहाँ से आठ उसभ दूर अश्वत्थ-वृक्ष की ओर आया।

वन-वेलियाँ महक उठीं। विहग-बालाएँ चहक उठीं। कलियों की हँसी उनका यौवन बन गई। पंछियों का गीत उनका जीवन बन गया। वातावरण युग-युग की अलमस्त उमंगों से नर्तित हो उठा।

उसी दिन—

सामने से आते सोत्थिय घसियारे से मेरी भेंट हुई। उस के सिर पर घास का गट्ठर था। बड़ा भोला था वह। उसके मन में भाव उठा, गौतम को देने के लिए आज मुझे कुछ न मिला। पश्चात्ताप की पीर से अधीर हो रहा था। फिर जाने क्यों-कर उसने आठ मुट्ठी घास मेरी ओर बढ़ाया, किन्तु, ज्यों ही अपनी मुट्ठी उसने खोली, क्या देखता है कि वह तृणदल सुरभित-सुमन बन गया है।

मै मुस्करा दिया—'जा रे सोत्थिय, तूने मुझे जितनी मुट्ठी फूल दिए, उतनी ही कोटि मुद्राएँ तुझे मिलेगी ।'

वह अपने पोपले मुँह में हँसी न रोक सका—'श्रमण गौतम, आज क्या बात है, बड़े प्रसन्न दिखते हो ? फूल कही मुद्रा बन सकते हैं !'

'क्यो नही ? जब तृण फूल बन सकते हैं, तो फूल मुद्रा क्यो नहीं बन सकते ?'

मैं तो समझता था, मैं ही पागल हूँ। परन्तु श्रमण गौतम भी'...वह यो कुछ बड़बड़ाता हुआ, हवा में अपना हँसिया घुमाता हुआ, अपने गेह गया ।

सोत्थिय के जाने पर, मै उत्तराभिमुख हुआ, वे तृण या वे फूल, अब भी मेरी अञ्जलि मे थे । सहसा पीछे का भू-भाग पाताल में जाने लगा । मैंने कहा, सिद्धार्थ, यह तो भूमि नही है ऐसी कि बुद्धत्त्व यहाँ मिले। फिर अश्वत्थ की ओर अपनी दाहिनी बाजू रखे, मैं पश्चिम मे आया और पूर्वाभिमुख खड़ा रहा। सहसा, पश्चिमी गोलार्ध धँसने लगा । पूर्व भूगोल ऊँचा और ऊँचा उठने लगा । अब जहाँ-जहाँ मैं पैर धरता था—धरती उठती और गिरती थी, जैसे गाडी का पहिया अपनी धुरी पर धरा हो, और कोई उसके किनारे-किनारे चल रहा हो ! यह भी उपयुक्त स्थल नही है । मैंने इस बार दक्षिण दिशा में प्रयत्न किया, उसका भी यही हाल हुआ । अश्वत्थ के पूर्वीय पक्ष की ओर आया । धरती अब न धँसती थी, न काँपती थी ।

मैंने जाना, यही अचला का वह अचल ठौर है, जहाँ सभी बुद्धो का आसन लगा है । मार-विकार की हार यही होती है ।

काम यही भस्म होता है । माया-जाल यही टूटता है । मुक्ति का द्वार यही खुलता है ।

मन मे मानो एक झंकार उठी ।

अनहद एक पुकार उठी । मै अश्वत्थ पादप की ओर पीठ करके पूर्वाभिमुख बैठा । मैंने निश्चय किया कि कोई शक्ति चाहे इस वसुन्धरा को बेर की तरह निगल जाए, चाहे इस समग्र आकाश को चटाई की तरह लपेट ले, परन्तु मार-पुत्रियाँ अपनी वासना के मदिरावरण मे मुझे नहीं लपेट सकती । और आज तो मैं अपनी ही शपथ लेता हूँ, इस अविचल आसन पर अखण्ड सतत करता हूँ कि जब तक बुद्धत्त्व की प्राप्ति नहीं होती, मेरा यह

आसन वज्रासन होगा। वज्र का वार चूक सकता है, मेरा निश्चय अचूक है। मेरा यह आसन अडोल, अकम्प रहेगा। इसके बाद मैं अपने समस्त ज्ञान, तारुण्य और बल को बुला कर बोला—

'चाहे मेरी त्वचा, नसें, और अस्थियाँ ही शेष क्यों न रहें, अथवा वे भी न रहें। चाहे रक्त, मांस और शरीर सूख जाए, रहे, न रहे किन्तु सम्यक् सम्बोधि प्राप्त किए बिना, इस आसन को न छोड़ूँगा।'

मैंने फिर गर्जना की :

'आओ वज्र लाख-लाख वार एक साथ वार करो, तुम सिद्धार्थ को अविचलित, अपराजेय पाओगे।'

उस दिन जरा-मरण से चलकर, जो विचार-पंथी विज्ञान तक आकर रुक गया था, आज फिर से नवोत्साह पूर्वक आगे बढ़ा। मन के चारों ओर की स्थितियाँ शान्त होने पर, उसकी एकाग्रता अपने विषय के प्रति चिन्मय हुई—विज्ञान से लौटना पड़ता है, नाम-रूप अन्तिम छोर है।

विज्ञान से लेकर दुखों की उत्पत्ति तक मैं निरंतर सोचता रहा। अब मुझमें अश्रुतपूर्व, अपूर्व धर्म विषयक दृष्टि का उदय हुआ, ज्ञान का उदय हुआ, प्रज्ञा का उदय हुआ। विद्या उत्पन्न हुई। नवीन आलोक उत्पन्न हुआ। उस आलोक में मैंने पूछा—किसके नहीं होने से जन्म-मरण नहीं होता? किसके निरोध से जरा-मरण विनष्ट होते हैं?

बोध हुआ—जन्म के नहीं होने से जरा-मरण नहीं होता। जन्म के निरोध से जरा-मरण का निरोध हो जाता है। उसी प्रकार आवागमन के निरोध से जन्म नहीं होता। उपादान भोग-शक्ति के नहीं होने से भव-आवागमन नहीं होता। इसी प्रकार किरणें बढ़ती गईं। और मैंने देखा कि नाम-रूप के नहीं होने से विज्ञान भी नहीं होता। नाम-रूप का निरोध विज्ञान का निरोध है।

और चार आर्य सत्य हैं—

दुख है,

दुख का कारण है,

दुख का नाश है,

नाश करने का निदान है।

मन ने साक्षी दी—मुक्ति का मार्ग तूने पा लिया है। सारे दुखों के निरोध-नाश का कारण तूने जान लिया हैं। 'निरोध-निरोध' करके पहले किसी मनुपुत्र द्वारा न सुने गए, न जाने गए, अभूतपूर्व धर्म का बोध हुआ है, उसका ज्ञान, प्रज्ञा, विद्या और आलोक उत्पन्न हुआ है। इस आलोक में तूने लोक को देखा है। भौतिक और अभौतिक पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश का रहस्य तुझे मिला हैं। पाँच उपादान-स्कन्धों के उदय और व्यय को देखकर विहार करने से तेरा अन्त करण चित्तमलों, आसवों से सर्वथा मुक्त हो गया है।

अब तू मुक्त है। यह तेरा अन्तिम जन्म है, अब दूसरा जन्म नही होगा।

अमृत मिल गया है!

रात चली गई थी। दिन आ गया था। स्वर्ण-विहान से दिशाएँ रस और आलोक से भर गईं थी। पूरब की उषा आज अधिक छविमान थी। जिस प्रकार प्रकाश से पुष्करणियों में पद्म प्रफुल्लित हो रहे थे, उस प्रकार सत्य के साक्षात्-कार से मेरे मानस का प्रज्ञा-पद्म प्रमुदित था।

मैंने सुधा का निर्झर पाया। ज्योति का उद्गम पाया। और प्रथम बार विश्वास आया—मृत्यु अब नही रहेगी। अन्धकार अब नही रहेगा। मैंने कहा—

'अमृत का द्वार खुल गया है!'